हिमाचल प्रदेश

अभिलेख और पांडुलिपियाँ

सम्पादक

डॉ. तुलसी रमण

हिमाचल प्रदेश
अभिलेख और पांडुलिपियाँ

हिमाचल अकादमी

हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी

क्लिफ ऐण्ड एस्टेट, शिमला - 171001

हिमाचल प्रदेश
अभिलेख और पांडुलिपियाँ

संपादक
डॉ. तुलसी रमण

सह संपादक
गिरिजा शर्मा

ISBN : 978-81-86755-66-7

प्रकाशक : सचिव
हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी
शिमला-171001

प्रथम संस्करण : 2012

मूल्य : ₹ 170.00 सजिल्द
₹ 100.00 पेपरबैक

आवरण : गुरमीत नागपाल

कम्पोज़िंग : रविन्द्र नाथ

मुद्रक : भारत ऑफसेट वर्क्स
3550, जाटवाड़ा स्ट्रीट, दरयागंज
नई दिल्ली - 110 002

Himachal Pradesh : Abhilekh aur Pandulipiyan
Editor : Dr. TULSI RAMAN
Published by : Secretary, Himachal Academy of Art, Culture & Language, Shimla-171001
Edition : 2012
Price : ₹ 170/-
Paperback : ₹ 100/-

आमुख

प्रेम कुमार धूमल

मुख्यमंत्री हिमाचल प्रदेश एवं अध्यक्ष हिमाचल अकादमी

किसी भी देश, प्रदेश अथवा मनुष्य समाज के अतीत को जानने-समझने में अभिलेखों का विशेष महत्त्व रहता है। इन अभिलेखों से हमें न केवल सुदूर अतीत के शासकों और सामंतों के नामों और उनके शासन-काल की खास तिथियों का पता चलता है, बल्कि उस राज्यकाल की विशेष घटनाओं, तत्कालीन समाज के प्रमुख व्यक्तियों और उनके उल्लेखनीय कार्यों की जानकारी भी मिलती है। इस तरह अभिलेख इतिहास ज्ञान के प्रमुख स्रोत और साक्ष्य साबित होते हैं।

हिमाचल प्रदेश में पुरा-अभिलेखों का विपुल भंडार है। ये अभिलेख प्रस्तर शिलाओं, मूर्ति की पीठिकाओं, ताम्रपत्रों और हस्तलिखित पोथियों या पत्रकों के रूप में अंकित मिलते हैं। यहाँ के अधिकांश अभिलेख ब्राह्मी, खरोष्ठी, शारदा और टांकरी लिपियों में हैं। इससे स्पष्ट होता है कि अतीत में इस भू-भाग में ये लिपियाँ किसी न किसी स्तर पर चलन में रही हैं, जो अब अभिलेखों की लिपियाँ कहलाती हैं। समूचे उत्तर-पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में चम्बा राज्य के अभिलेख सबसे अधिक संख्या में मिले हैं। इन पुरा-अभिलेखों के संग्रह की दृष्टि से चम्बा का भूरिसिंह संग्रहालय पर्याप्त सम्पन्न है। इस संग्रहालय में अधिकांश अभिलेख या दस्तावेज़ चम्बा राज्य के तोशाखाना से राजा भूरिसिंह के आदेश पर स्थानान्तरित किए गए थे। इसके अलावा राज्य संग्रहालय-शिमला, कांगड़ा कला संग्रहालय-धर्मशाला तथा राज्य अभिलेखागार-शिमला में भी अभिलेखों के अमूल्य संग्रह हैं। इन सरकारी प्रतिष्ठानों के अतिरिक्त प्रदेश के अनेक मंदिरों, बौद्ध गोन्पाओं और पुराने महलों आदि में भी पुरा-अभिलेख उपलब्ध हैं, जिन्हें आधार मानकर कला और इतिहास के शोधकर्ता विद्वान अपना अनुसन्धान कार्य करते रहे हैं।

अभिलेखों के अतिरिक्त हिमाचल प्रदेश के विभिन्न स्थानों में पाण्डुलिपियों के भंडार हैं। ये हस्तलिखित ग्रंथ मुद्रण की मशीन के आने से पहले ज्ञान-प्रसार के प्रमुख साधन रहे हैं। अकादमी द्वारा प्रकाशित यह पुस्तक प्रदेश की पुरा-सम्पदा पर केन्द्रित है। इसमें प्राचीन लिपियों, पांडुलिपियों और अभिलेखों का आकलन और विश्लेषण विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया है। हमारे यहाँ कला और पुरातत्त्व विषयक अधिकांश लेखन अब तक अंग्रेज़ी में होता रहा है, इसलिए भी हिन्दी में इन विषयों के शोधपूर्ण लेखों की यह पुस्तक विशेष महत्त्व रखती है।

प्राक्कथन

मनीषा नंदा
प्रधान सचिव (भाषा-संस्कृति) एवं उपसभापति हिमाचल अकादमी

हिमाचल प्रदेश के विभिन्न अँचलों से प्राप्त प्राचीन शिलालेखों, धातु-पत्रों पर अंकित आलेखों एवं हस्तलिखित पोथियों से इस भू-भाग में विभिन्न लिपियों के प्रचलन के क्रमिक साक्ष्य मिलते हैं। इन अभिलेखों में जहाँ मुगल काल से पहले के पुरा-अभिलेख हैं, वहीं मुगल कालोत्तर अभिलेख भी हैं। पूर्व मुगलकालीन अभिलेख जहाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी में अंकित हैं, वहीं ग्यारहवीं शताब्दी के अभिलेखों में शारदा लिपि का वर्चस्व देखने को मिलता है। ये अधिकांश अभिलेख ताम्र-पत्रों के रूप में हैं। कागज़ का प्रचलन होने के बाद राजकीय अभिलेख भी राजा की मुहर के साथ कागज़ पर लिखे जाने लगे थे।

कागज़ उपलब्ध होने के बाद इस भू-भाग में भी हस्तलिखित ग्रंथों का चलन बढ़ गया था। यही कारण है कि आज हिमाचल प्रदेश में पांडुलिपियों की सुदीर्घ परम्परा सामने आ रही है। ये अधिकांश हस्तलिखित ग्रंथ टांकरी और देवनागरी में हैं, जबकि कुछ पुरानी पांडुलिपियाँ शारदा तथा इससे विकसित कई स्थानीय लिपियों में भी उपलब्ध होती हैं। राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन स्थापित होने के बाद हिमाचल प्रदेश में भी 27 मई, 2005 को अकादमी के अन्तर्गत पांडुलिपि रिसोर्स सेंटर की स्थापना की गई थी। पिछले सात सालों में इस सेंटर के अन्तर्गत पांडुलिपि विषयक महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। अब तक प्रदेश की 77,319 पांडुलिपियों की कैटालॉगिंग की गई है और पोस्ट सर्वे के अन्तर्गत 18,247 पांडुलिपियों का डाटा इलैक्ट्रॉनिक माध्यम से भी दर्ज़ हो चुका है। इस अभियान के दौरान विभिन्न विधाओं की 727 पांडुलिपियाँ अकादमी के पुस्तकालय के लिए भी मानार्थ प्राप्त हुई हैं।

पांडुलिपि मिशन की योजना के अन्तर्गत अकादमी द्वारा प्रदेश के विभिन्न स्थानों पर अनेक पांडुलिपि जागरूकता शिविर आयोजित किए गए, जिनसे प्रदेश के लोगों में इस धरोहर के संरक्षण को लेकर जानकारी बढ़ी है। कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रख्यात विद्वानों के 'तत्त्वबोध व्याख्यान' भी आयोजित किए गए हैं। विभिन्न स्थानों पर जो नियोजित रूप से पुरातत्त्व विषयक आयोजन किए गए, उनमें प्रस्तुत कई शोध पत्र इस पुस्तक में शामिल हैं। इस तरह 'हिमाचल प्रदेश : अभिलेख और पांडुलिपियाँ' शीर्षक से पुरातत्त्व धरोहर को लेकर अकादमी की यह पुस्तक शोधार्थियों और इन विषयों के पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रस्तावना

डॉ. तुलसी रमण
सचिव, हिमाचल अकादमी

'एक पुरातत्त्ववेत्ता ज़मीन के नीचे दबी दुनिया में वैसे ही चलता है, जैसे जंगल में शिकारी... दृश्य सुरागों के सहारे अदृश्य को खोजता हुआ, जो किसी पत्थर, सिक्के या शिलालेख के पीछे से अचानक प्रगट हो सकता है। हर चीज़ जो दिखाई देती है, वह एक संकेत और सिग्नल है, किसी ऐसे छिपे खजाने की ओर इशारा करती हुई, जो आँखों से ओझल है। ओझल अतीत को ज्यों का त्यों अनावृत्त करना, जैसा वह किसी अन्य समय में जीवित था, यह पुरातत्त्व का काव्य शास्त्र है।'

प्रख्यात साहित्यकार और चिंतक निर्मल वर्मा ने ये शब्द इतिहास और स्मृति विषयक एक व्याख्यान में कहे थे। अभिलेख और पांडुलिपियाँ वास्तव में पुरातत्त्व के इसी काव्य शास्त्र के महत्त्वपूर्ण और आधारक अंग हैं।

अभिलेख ऐतिहासिक महत्त्व की लिखित इबारतें हैं। इनसे हमें सुदूर अतीत की विशेष घटनाओं, किसी विशिष्ट काल खंड के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों और जन-समाज की दुर्लभ जानकारी मिलती है। इस तरह अभिलेखों से हमें इतिहास के गवाक्ष खोलनेवाली तथ्यपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं और तिथि युक्त अभिलेख इतिहास की प्रामाणिक पुष्टि भी करते हैं। ये अभिलेख कई रूपों में मिलते हैं; यथा प्रस्तर शिला पर साधारण वाक्य या पद्यमय रचना, मंदिरों अथवा मूर्तियों में प्रस्तर, धातु या काष्ठ पर खुदी इबारतें, ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण राजाज्ञा तथा सिक्कों में अंकित संक्षिप्त शब्द और अंक। *'तांबे की बही पर लिखना'* यह मुहावरा आज भी स्थायी महत्त्व की बात को दर्ज़ करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

पांडुलिपि यानी लिखित पीताभ ग्रंथ, प्रारंभ में ताड़ पत्र या भूर्ज पत्र पर तैयार किए जाते रहे और कागज़ का निर्माण होने के साथ हस्तलिखित ग्रंथों के अतिरिक्त राजकीय अभिलेख भी राजा की मुहर के साथ कागज़ों पर लिखे जाने लगे।

अभिलेखों और पांडुलिपियों को अंकित करने के लिए लिपि की आवश्यकता रहती ही है। अक्षरों और चित्रों के आकार-प्रकार लेकर लिपियों के विकास का भी लम्बा और क्रमिक इतिहास रहा है। इस पुस्तक के कुछ प्रारंभिक लेख हिमाचल प्रदेश में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार सहित लिपि, अभिलेख और पांडुलिपि आदि की पुरातत्त्व धरोहर पर केंद्रित हैं। इनमें कुल्लू, चम्बा, खनियारा, चड़ी, कोटकांगड़ा बैजनाथ और मंडी के अभिलेखों के संदर्भ आए हैं। इस तरह यह पुस्तक हिमाचल

प्रदेश की पुरा-सम्पदा के विभिन्न पक्षों पर शोधपूर्ण सामग्री का संग्रह है।

भारतीय लेखन कला में 'ब्राह्मी' को सबसे पुरानी लिपि के रूप में स्वीकार किया गया है। यह भी हमारी परम्परा रही है कि कलाओं को 'त्रिदेव' या आदि देवियों में से किसी के साथ जोड़ दिया जाता है। इसी चलन में ब्राह्मी को ब्रह्मा की लिपि भी कहा गया है। लिपि-विकास को लेकर भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के विभिन्न मत हैं। इनमें सिंधु सभ्यता की अबूझ चित्रात्मक लिपि का उल्लेख भी आता है। एक सामान्य धारणा यह भी है कि ब्राह्मी लिपि ई.पू. 9वीं शताब्दी में अस्तित्व में थी। आर.सी. मजूमदार का मानना है कि पहला राजा अशोक था, जिसके शासनकाल की घटनाएँ लिखित रूप में उपलब्ध होती हैं। अशोक कालीन शिलालेख ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में मिलते हैं। इस पुस्तक में एम.आर. ठाकुर तथा डॉ. शमी शर्मा के लेख लिपि-विकास को लेकर हिमाचल प्रदेश में उपलब्ध साक्ष्यों के संदर्भों सहित हैं और डॉ. कृष्ण लाल शर्मा ने ब्राह्मी की वैचारिक भूमि को उद्घाटित किया है। उनका मानना है कि ब्राह्मी लिपि का स्वरूप विशिष्ट चिंतन का परिणाम है। भाषा के उच्चरित रूप को व्यवस्थित करना, उसे वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करना, जिन ऋषियों का लक्ष्य रहा, उन्होंने ही लिपि को वैचारिक आधार देने का प्रयास किया।

चम्बा ज़िला के भरमौर और छतराड़ी की प्राचीन मूर्तियों पर उत्कीर्ण आलेख राजा मेरु वर्मन की कीर्ति का बखान करते हैं और ये लेख इस तथ्य के साक्ष्य भी हैं कि 8वीं शती में उत्तर-पश्चिमी हिमालय तक ब्राह्मी लिपि प्रचलन में थी। इसके बाद साहिल वर्मन के राज्य काल 10वीं शताब्दी तक चम्बा में शारदा लिपि का चलन हो गया था। उस काल के ताम्रपत्र इस तथ्य के साक्षी हैं। वास्तव में शारदा लिपि का गढ़ कश्मीर था। दूर-देशांतर से विद्या ग्रहण करने के लिए छात्र यहाँ आते थे। इसीलिए कश्मीर को 'शारदा राज्य' भी कहा जाता था।

कश्मीर संस्कृत काव्य शास्त्र का भी गढ़ रहा। आनंदवर्द्धन, कल्हण, उद्भट्ट, वामन, रूद्रट, अभिनव गुप्त, कुंतल तथा मम्मट आदि महान काव्य शास्त्री और प्रकांड विद्वान कश्मीर में हुए, जिन्होंने भारतीय काव्य शास्त्र में मौलिक योगदान किया। कश्मीर के सान्निध्य में रहते हुए ही हिमाचल प्रदेश के भू-भाग में शारदा लिपि का प्रचलन हुआ। कालांतर में हम देखते हैं कि हिमाचल प्रदेश में शारदा से निकली टांकरी लिपि का व्यापक प्रचलन रहा। 1800 ई. के आसपास चलन में आई इस लिपि का व्यापरियों ने विशेष तौर से प्रयोग किया। क्षेत्रीय स्तर पर इसके कई रूप आज भी मिलते हैं।

कश्मीर से 11-12वीं सदी में कुछ पंडित परिवार रानी के साथ आकर सिरमौर में ही बस गए थे। वे लोग शारदा लिपि में लिखे अपने ग्रंथ साथ लाए थे। उन विद्वानों के वंशज आज भी सिरमौर, चौपाल, ठियोग, घूंड तथा जोंनसार-बाबर के कुछ गाँवों में अपनी पारम्परिक विद्या को संजोये हुए हैं। मगर पिछली लगभग

नौ सदियों से चले आ रहे व्यवहार में जो 'सांचा विद्या' आज तक चलन में है, उसके 'सांचा' यानी संचयन ग्रंथ अब चार लिपियों पाबुची, भट्टाक्षरी, चंदवाणी और पंडवाणी में मिलते हैं। स्पष्ट है कि ये चार लिपियाँ पहाड़ के अलग-थलग गाँवों में बसे पंडितों की वंश परम्परानुसार मूल शारदा लिपि से ही विकसित हुई हैं। एक धारणा यह भी है कि पंडितों ने इस विद्या को गोपनीय बनाये रखने के लिए अपनी अलग लिपियों का निर्माण किया। यह हिमाचल भूमि पर लिपि-विकास का अनूठा और दिलचस्प उदाहरण है। इस 'सांचा विद्या' और इसके ग्रंथों की इन लिपियों पर इस पुस्तक में अंतिम तीन लेख हैं।

हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी में मई, 2005 में राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन के रिसोर्स सेंटर की स्थापना के बाद जो कार्यक्रम प्रदेश के विभिन्न स्थानों में 'पांडुलिपि जागरूकता अभियान' के अंतर्गत हुए, उनमें पुरातत्त्व के विभिन्न पक्षों की ओर ध्यान जाता रहा। पिछले दो वर्षों में इन आयोजनों के लिए नियोजित रूप से प्रदेश की पुरा-सम्पदा पर विषय के अध्येता विद्वानों से शोध लेख लिखवाए गए और संगोष्ठियों में इनका पाठ भी हुआ।

हिमाचल प्रदेश की प्राचीन लिपियों पर केंद्रित तीन सप्ताह का एक शिविर भी पांडुलिपि मिशन की योजना के तहत शिमला में आयोजित किया गया। राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन की निदेशक प्रोफेसर दीप्ति एस. त्रिपाठी की ओर से इस तरह के आयोजनों के लिए विशेष प्रोत्साहन मिलता रहा। इस पुस्तक में सम्मिलित डॉ. शमी शर्मा, प्रो. कृष्ण लाल शर्मा, तोबदन, विजय शर्मा, छेरिंग दोरजे, राजपाल वर्मा, सोमदत्त शर्मा तथा रमेश चंद्र आदि के लेख प्रदेश के विभिन्न स्थानों में आयोजित इन संगोष्ठियों के माध्यम से जुटाए गए हैं।

हिमाचल प्रदेश की पुरा-सम्पदा को लेकर इससे पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री की खोज करके, उसमें से सिद्धार्थ चंद्र, डॉ. रामस्वरूप पल्लव, एम. आर. ठाकुर, डॉ. ओम प्रकाश शर्मा, अमरनाथ खन्ना, डॉ. कमल के. प्यासा, डॉ. ओम प्रकाश राही और सी.आर.बी. ललित के लेख इसमें संपादित रूप में सम्मिलित किए गए हैं। इसके संपादन एवं प्रूफ शोधन में अकादमी की अनुसंधान अधिकारी सुश्री गिरिजा शर्मा का विशेष सहयोग रहा है।

इस तरह लिपि, लेखन कला, पांडुलिपि, पांडुलिपि चित्रांकन और अनुवाद, अभिलेख, सिक्के और सांचा ग्रंथ आदि से सम्बन्धित प्रदेश की पुरातत्त्व सम्पदा विषयक बहुविध सामग्री का संग्रह इस पुस्तक में है। विद्वानों द्वारा ये शोध लेख पूर्व प्रकाशित सामग्री के अध्ययन और विभिन्न नये साक्ष्यों के आधार पर तैयार किए गए हैं और यह पुस्तक भविष्य में शोधकर्ताओं को प्रेरित करने वाली भी साबित होगी, क्योंकि इस तरह के विषयों को लेकर बहुआयामी अध्ययन, अनुसंधान और शोध का सिलसिला चला रहता है।

अनुक्रम

लिपि विकास की यात्रा : हिमाचल का संदर्भ

एम. आर. ठाकुर

विदेशी विद्वानों का मानना है कि भारत में लिखने की कला अन्य देशों की अपेक्षा बहुत देर बाद पनपी है। मैक्समूलर का कहना है, 'मैं निश्चय से कहता हूँ कि पाणिनि की परिभाषा में एक भी शब्द ऐसा नहीं है, जो यह सूचित करे कि भारत में लिखने की प्रणाली पहले से थी।' वे पाणिनि का समय ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी मानते हैं और पुनः लिखते हैं कि 'ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से पहले भारतीय समाज लिखने की कला से अनभिज्ञ था।' इसी तरह बर्नेल अपनी पुस्तक 'रणौथ इंडिया पैल्योग्राफ़ी' के पृष्ठ 9 पर लिखते हैं कि 'भारत-वासियों ने फ़िनिश्यन लोगों से लिखना सीखा और फ़िनिश्यन अक्षरों का, जिनसे दक्षिण में अशोक लिपि बनी, भारतवर्ष में ईसा पूर्व 500 से पहले प्रवेश नहीं हुआ था।' बूलर भारत की प्राचीन लिपि को सेमेटिक (सामी-अरबी) लिपि से व्युत्पन्न मानते हैं। वह लिखते हैं कि ईसा-पूर्व 500 के आस-पास बड़े परिश्रम से ब्राह्मी लिपि का निर्माण हुआ था।

भारतीय मनीषियों ने विदेशी विद्वानों की उक्त धारणा का खंडन किया है। उनके मतानुसार भारत की लिपि ब्राह्मी स्वयं ब्रह्मा ने बनाई थी। इस लिपि में प्रत्येक अक्षर एक ही ध्वनि का परिचायक होता है। मैक्समूलर तथा बूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों के उपर्युक्त विचार उस समय के हैं, जब तक मोहनजोदड़ो और हड़प्पा आदि स्थानों के उत्खनन से सिंधु सभ्यता की खोज नहीं हुई थी। यद्यपि सिंधु सभ्यता की चित्रात्मक लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है, परंतु जिस तरह हज़ारों की संख्या में विभिन्न प्रकार की मोहरें उपलब्ध हुई हैं, उनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि उस समय लिखने की कला विद्यमान थी।

इसलिए प्रो. डी. आर. भंडारकर का मानना है कि भारत में लिखने की प्रणाली बहुत प्राचीन रही है और ब्राह्मी लिपि सिंधु घाटी की चित्रात्मक लिपि से व्युत्पन्न हुई है। इस प्रकार सामान्यतः विद्वानों की यह सहमति रही है कि भारत

में ब्राह्मी लिपि ईसा पूर्व नौवीं सदी से प्रयोग में आई है।

चंद्रगुप्त और बिंदुसार के निधन के बाद ईसा पूर्व 273 में अशोक मगध की गद्दी पर बैठा था। भारत के इतिहास में अशोक पहला सम्राट है, जिसके समय की घटनाएँ लिखित रूप में मिलती हैं। अशोक का लगभग ईसा पूर्व 232 में निधन हो चुका था। सुप्रसिद्ध इतिहासकार आर.सी. मजूमदार अपनी पुस्तक 'एन्शंट इंडिया' के पृष्ठ 156 में लिखते हैं कि भारत के इतिहास में अशोक पहला राजा है, जिसके शासन की घटनाएँ लिखित रूप में मिलती हैं। उसके शिलालेख दो प्रकार की लिपियों में खुदे हुए मिलते हैं। पहली खरोष्ठी, जिसमें मात्र शाहवाज़गढ़ी और मानसेहरा के शिलालेख लिखे गए हैं और उसके बाद उसका प्रयोग नहीं मिलता। परंतु दूसरी लिपि ब्राह्मी है, जो अन्य सारे शिलालेखों में प्रयुक्त हुई है। यह भारत वर्ष की प्राचीनतम लिपि है और आज जितनी लिपियाँ विद्यमान हैं, वे सभी इसी ब्राह्मी से उपजी हैं।

इस से स्पष्ट हो जाता है कि लिपि के इतिहास में ब्राह्मी लिपि के अतिरिक्त खरोष्ठी लिपि ने भी भारतीय लेखन कला के इतिहास में अशोक के समय में ही पदार्पण किया था। खरोष्टी लिपि दायीं से बायीं ओर को लिखी जाती थी और इसका मूल क्षेत्र भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग रहा है। प्राचीन लिपि की विशेषज्ञ-विदुषी डॉ. रीता देवी शर्मा का मानना है कि स्थानीय जनजातीय गणराज्यों, भारत-यूनानी, भारत-खुरासानी और कुशान राजाओं के सिक्कों में ब्राह्मी और बेक्ट्रियन लिपियों के साथ-साथ खरोष्ठी लिपि का भी प्रयोग होता रहा है (देखें, चम्बा सहस्राब्दी स्मारिका, पृ. 52), परन्तु उन्होंने न तो कोई उदाहरण दिया है और न ही इसका कोई कारण बताया है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि वर्तमान हिमाचल के प्राचीन भू-भाग में ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी ईसवी तक कुणिंदों, औदुंबरों, वेमकियों और यौधेय क़बीलों के सशक्त और समृद्ध गणराज्य स्थापित रहे हैं। इनका उत्तर-पश्चिम की ओर यूनान तक विभिन्न देशों के साथ व्यापार चलता था और व्यापार करने के लिए इन गणराज्यों ने द्विभाषी सिक्कों का प्रचलन शुरू किया था।

उदाहरणार्थ कुणिंद गणराज्य के सिक्कों में एक ओर तो 'राज्ञ कुनिंदस्य अमोघभूतस्य महाराजस्य' आख्यान ब्राह्मी लिपि में लिखा जाता था तथा दूसरी ओर 'राणा कुनिंदस अमोघभूतिस महाराजस' शब्द खरोष्ठी में लिखे जाते थे। स्पष्ट है कि ब्राह्मी लिपि में तो संस्कृत भाषा अंकित होती थी और खरोष्ठी में प्राकृत भाषा का रूप रहता था। इसी तरह विदेशी मुद्राओं में एक ओर तो यूनानी आदि उनकी अपने देश की लिपि रहती थी और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में लिखा जाता रहा है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि खरोष्ठी अन्तर्राष्ट्रीय लिपि के रूप में प्रचलित थी।

ब्राह्मी में प्राचीनतम सिक्के

पहाड़ी रियासतों में सबसे पुराना सिक्का कुल्लू राज्य से सम्बंधित है। इसे

कनिंघम ने 'कॉइन्स ऑफ़ एन्शंट इंडिया', पृ. 67, प्लेट IV, संख्या 14 पर प्रकाशित किया है, परंतु स्वीडन के विद्वान डॉ. ए.वी. बरगनी ने इसे सबसे पहले इस प्रकार पढ़ा था– 'राज्ञा कोलूतस्य वीरयशस्य' अर्थात् 'कुलूत के राजा वीरयश का (सिक्का)'। बाद में प्रो. रैपसन ने इसकी पुष्टि की थी और कहा कि यह कुल्लू के राजा का सिक्का है और इससे भारत के राजाओं की सूची में एक और नाम जुड़ गया है। यों लगता है कि ब्राह्मी लिपि में 'ज्ञ' की ध्वनि दर्शानेवाला अक्षर नहीं था, इस लिए प्रथम भाषा को छोड़कर संस्कृत शब्द का यह सारा लेख ब्राह्मी लिपि में लिखा गया है, जबकि पहले शब्द 'राज्ञा' को खरोष्ठी लिपि में अंकित किया गया है और उस लिपि में भी इसे 'राणा' लिखा है 'राज्ञा' नहीं। यह सिक्का ईसा की प्रथम सदी का माना गया है। इसी समय का और इसी तरह का एक और शिलालेख प्राप्त है, जिसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है –

खनियारा (घनियारा) शिलालेख

कांगड़ा से बारह मील दूर धर्मशाला के निकट खनियारा गाँव है, जो प्रायः पत्थर की स्लेटों के लिए प्रसिद्ध है। धर्मशाला और इस गाँव के बीच एक खेत में दो शिलालेख हैं, जिन्हें सब से पहले मिस्टर ई. सी. बेले ने 1854 ई. मे खोज निकाला था। बाद में एलग्ज़ेंडर कनिंघम ने अपनी पुस्तक आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, वॉल्यूम V के पृष्ठ 175 पर इनका वर्णन किया है। इनमें स पहला लेख आर्य पालि भाषा में तथा दूसरा लेख भारतीय पालि भाषा में है जो नीचे दिये जा रहे हैं –

इनके शब्द इस प्रकार हैं– *'कृष्णयशस आराम'* तथा *'कृष्णयशस्य आराम मेदांगिस्य'*।

दोनों लेखों का एक ही भाव है अर्थात् 'कृष्णयश का उद्यान'। दूसरे लेख में 'मेदांग' से अभिप्राय मोटा या बड़ा है। बेले के अनुसार ये लेख ईसा पूर्व पहली शताब्दी के हैं। कनिंघम के अनुसार भी ये लेख ईसा पूर्व पहली शताब्दी से बाद के नहीं हो सकते। उन्होंने खनियारा गाँव का सम्बंध भी इसी लेख से जोड़ा है। उनका कहना है कि 'कन्हैया और कान्ह' दोनों शब्द कृष्ण के पर्यायवाची हैं। अपने मत को और दृढ़ करने के लिए वे 'कान्हरी' पर्वत का भी वर्णन करते हैं, जो 'कृष्णगिरी' का दूसरा रूप है अर्थात् 'कान्हरी' शब्द 'कान्हगिरी' का संक्षिप्त रूप है। इसी तरह 'कन्हियारा' भी 'कान्हायशस-आराम्' का संक्षिप्त रूप है, जिसमें बीच के शब्दों को छोड़ दिया गया है।

जहाँ तक दूसरे लेख के मेदांगिस्य शब्द का सम्बंध है, कनिंघम का कहना है कि यह या तो उस इलाके का नाम हो सकता है या लेखक का नाम, जिसने इसे अंकित किया है। दोनों लेखों के अंत में 'स्वस्ति' और 'ओं' के चिह्न भी हैं।

वीरयश और कृष्णयश के दोनों लेख पहली और दूसरी सदी ईसवी में प्रचलित ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों के उदाहरण हैं। कुणिंद और औदुंबर क़बीले के सिक्के भी दूसरी सदी ईसवी के बाद के नहीं मिलते। इसके तुरंत बाद की लिपियाँ क्रमशः कुषाण और गुप्त लिपियाँ कहलाईं; परंतु ये बहुत देर तक नहीं चलीं। इनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन होना स्वाभाविक था। सातवीं सदी ईसवी के आस-पास के अक्षर कुटिल लिपि कहलाए, जिसका एक उदाहरण लक्षणा देवी और गणेश के आख्यान के साथ आगे दिया जा रहा है।

कुटिल लिपि ने शारदा लिपि को जन्म दिया। आठवीं सदी की लिपि को नागरी लिपि कहा गया है। इस नागरी लिपि से तिब्बती, गुरुमुखी, पंजाबी और टांकरी आदि लिपियों का जन्म हुआ है।

चड़ी

चड़ी गाँव कांगड़ा से पूर्व की ओर आठ मील तथा नगरोटा से उत्तर-पूर्व की ओर एक मील दूर स्थित है। 1854 ई. में जब बनेर नदी पर एक पुल बनाने के लिए पत्थर निकाले जा रहे थे, तो टी.डी. फोरसाइथ ने वहाँ एक मंदिर की नींव खोज निकाली, जिसके एक पत्थर पर कुछ लेख खुदे हुए थे। कनिंघम के अनुसार ये लेख सातवीं या आठवीं शताब्दी की नागरी लिपि में लिखे गए हैं। शिलालेख के आरंभ में 'ओम् स्वस्ति' दो शब्द हैं, जो बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध शब्द हैं। इनके बाद के शब्द स्पष्टतया पढ़े नहीं जाते। सारांश में यह बौद्ध धर्म के उस प्रचार से सम्बंधित है जो, 'ये धर्म हेतु...' आदि शब्दों से आरंभ होता है। इस शिलालेख को बाद में मलकेड़ा पर्वत पर सरकिट हाउस के सामने रखा गया था, ताकि वह सुरक्षित रह सके। कनिंघम ने वहीं से इस शिलालेख की नक़ल की थी
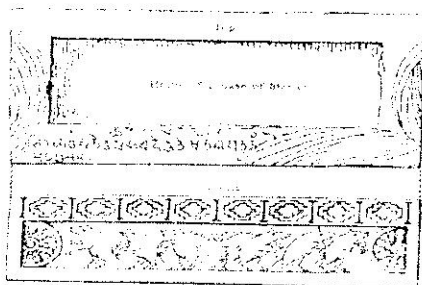
कोट कांगड़ा

कोट कांगड़ा का क़िला, जिसे मुसलमान इतिहासकारों ने नगरकोट नाम

दिया है, राजा सुशर्म चंद्र द्वारा बनवाया गया बताया जाता है। किले के अंदर बैजनाथ तथा किराग्रां के मंदिरों जैसे मंदिर हैं। मंदिर के स्तंभ के निम्न भाग में संवत् 1523 (सन् 1466) का लेख अंकित है। कनिंघम का कहना है कि काली देवी के मंदिर में भी एक लेख था, जो अब नहीं है। कनिंघम ने जहाँगीरी द्वार के बाहर के एक और लेख का भी वर्णन किया है, परंतु यह इतना पुराना है कि वे भी इसे पढ़ न सके थे। उनका मत है कि यह लेख कांगड़ा में सब से पुराना है और लगभग छठी शताब्दी से पहले का है।

कांगड़ा एक प्राचीन नगर है तथा इसमें कुछ और शिलालेख भी उपलब्ध हैं। यहाँ एक इंद्रेश्वर का मंदिर है, जो राजा इंद्र चंद्र द्वारा बनाया गया बताया जाता है। मंदिर के बाहर कुछ चित्र भी बने हैं, जो जैन धर्म से सम्बंधित हैं। एक चित्र के नीचे आठ पंक्तियों का लेख है, जो 'ओम् संवत् 30 गच्छे राजा कुलेसरी' शब्दों से आरंभ होता है
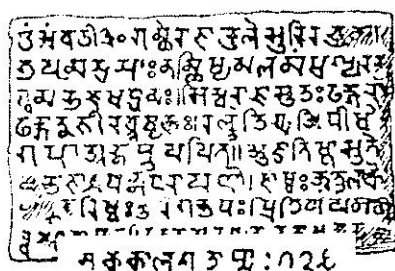
यह लेख दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी का है। इसमें अभय चंद्र का नाम अंकित है। इस नाम का राजा इंद्र चंद्र से पाँच पीढ़ियों पहले हुआ है, जिसका राज्य काल 1028 ई. से 1080 ई. है। अतएव यह लेख कनिंघम के अनुसार सन् 650 ई. के लगभग का है।

इंद्रेश्वर मंदिर से दक्षिण की ओर बीस गज़ की दूरी पर एक और लेख है, जो अधिकतर मिट चुका हुआ है। यह लेख नौवीं या दसवीं शताब्दी की कुटिल लिपि में लिखा गया है।

भवन के मंदिर में दो और लेख हैं। उनमें से एक का संवत् 10007 अर्थात् 1007 है, जिसका सन् 950 बनता है। यह चार पंक्तियों का लेख है। कनिंघम इसे नहीं पढ़ सका था। दूसरा लेख चौबीस पंक्तियों का है। इसकी पहली दो पंक्तियाँ टांकरी लिपि में हैं, जिनमें ज्वालामुखी की स्तुति की गई है *ओम् स्वस्ति ओम् नमो ज्वालामुखी।* शेष बाईस पंक्तियाँ नागरी लिपि में हैं। यह लेख संसारचन्द-1 के समय का है।

चम्बा के शिलालेख

चम्बा ज़िला के भरमौर नगर में चार प्रसिद्ध शिलालेख हैं। इनमें से तीन बुड्ढल नदी के किनारे पर हैं तथा चौथा रावी नदी के किनारे छतराड़ी स्थान पर है। ये सभी पीतल की मूर्तियों पर खुदे हैं। भरमौर में तीन प्रसिद्ध मंदिर हैं, जिनमें से दो पत्थर के तथा तीसरा लकड़ी का बना है। सब से बड़ा पत्थर का मंदिर मणिमहेश का है, जिसमें शिवलिंग स्थापित है। लिंग के चारों ओर पीतल की मूर्तियाँ हैं। कनिंघम ने इनमें से दो मूर्तियाँ गणेश की तथा एक दुर्गा की बताई है। संगमरमर के पत्थर पर चार पंक्तियों का लेख है, जिसका आरंभ संवत् 1474 (सन् 1417) से होता है।

पत्थर का दूसरा मंदिर भी मणिमहेश के मंदिर की तरह का है। यह विष्णु के अवतार नृसिंह का मंदिर है, जिसकी मूर्ति मंदिर में स्थापित है। स्तंभ तल पर कुछ लेख अंकित हैं, परंतु अधिक पुराने होने के कारण स्पष्ट रूप से पढ़े नहीं जाते।

तीसरा मंदिर, जो लकड़ी का बना है, लक्षणा देवी का है। इसके अंदर देवी की एक पीतल की मूर्ति है, जिसके तल पर दो पंक्तियों में यह लेख अंकित है–
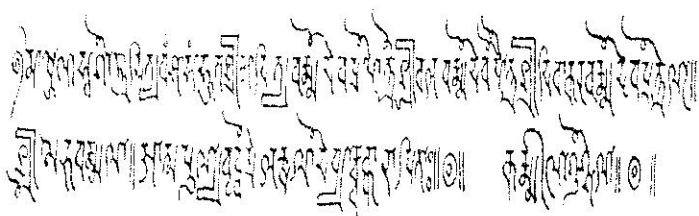
ओं मोशुनाश्व गोत्रादित्यवंशे सम्भूत
श्री आदित्य वर्म देव प्रपोत्रः
श्री बाल वर्म देव पौत्रः
श्री दिवाकर वर्म देव पुत्रेण
श्री मेरु वर्मणा आत्म पुण्य
वृद्धयास्य लक्षणादेव्यार्चकापिताह कर्मिणा गुग्गेण।

लक्षणा देवी की यह मूर्ति अपने पुण्य की वृद्धि के लिए मोशुनाश्व गोत्र तथा आदित्य वंश के मेरु वर्म देव, सुपुत्र दिवाकर वर्म देव, पौत्र श्री बाल वर्म देव, प्रपौत्र आदित्य वर्म देव ने अर्पित की है। गुग्गे द्वारा निर्मित।

गणेश के एक अन्य मंदिर में, जो पत्थर का बना है, देवता की पीतल की

मूर्ति स्थापित है। इसके स्तंभ तल में लेख इस प्रकार है–

1. ओं नमः गणपतये मोशुनाश्व
गोत्रादित्य वश सम्भूत श्री आदित्य वर्मा प्रपौत्रः
2. बाल वर्म देव मू........ पौत्रः
श्री दिवाकर वर्मदेव सूनुना
3. महाराजाधिराज श्री मेरु वर्मणा कारापिता देव वर्मेयम
4. कर्मिणा गुग्गेण

गणपति के लिए नमस्कार। (यह मूर्ति) मोशुनाश्व गोत्र तथा आदित्य वंश के महाराजाधिराज मेरु वर्मा सुपुत्र दिवाकर वर्म देव, पौत्र बाल वर्म देव, प्रपौत्र आदित्य वर्म देव ने अर्पित की है।

मणिमहेश और नरसिंह के मंदिरों के बीच में लकड़ी के एक चबूतरे पर नंदी वृष की मूर्ति है। इसके तल पर दो पंक्तियों का एक लेख अंकित है –

1. प्रासाद मेरु सदृशं हिमवन्तः मरुत्वतः
कृत्वा स्वयं प्रवर कर्म शुभैरनैकेः
ताश्चन्द्र शाल रचितम् नव नाभ नाम
प्रग्रीव कैरछी विध मण्डप नैकचित्रैः।
2. तस्याग्रातो वृपभपीन कपोल कायः
संश्लिश्ट वर्प काकुदाना ता देव थानः
श्री मेरु वर्म चतुरोदधि कीर्तिरिष
माता पितृः सतत मात्मानु वृद्धेः
कर्ता कर्मिणा गुग्गेण।

रावी नदी के बाएँ किनारे एक बड़ा गाँव है छतराड़ी, जो भरमौर और चम्बा के मध्य बुड्ढल और रावी नदी के संगम पर स्थित है। यहाँ शक्ति देवी का मंदिर

है, जिसमें देवी की मूर्ति स्थापित है। मूर्ति के तल पर एक लेख अंकित है। इसका सार भी वही है, जो भरमौर के मंदिरों के लेखों का है। मेरु वर्मा ने ही इसे गुग्गे से बनवाया है।

मंडी के शिलालेख

पहाड़ी रियासतों में मंडी एक प्रसिद्ध रियासत रही है। इसका मुख्यालय मंडी में ही रहा है। इस रियासत के राजाओं के सती-स्तंभ अब भी विद्यमान हैं। ये सती-स्तंभ शहर से बाहर बिलासपुर-सुकेत को जानेवाली सड़क के किनारे पर हैं। कनिंघम ने इस प्रकार के सात शिलालेखों का वर्णन किया है—

प्रत्येक शिला पर सम्बंधित राजा तथा उसके साथ सती हुई रानियों के चित्र बने हैं। राजा और रानी के चित्रों के नीचे उन ख़वासियों (गोलियों) और रकालियों (रखैलों) के नाम भी हैं, जो राजा के साथ जलाई गई हैं। इसके नीचे नागरी या टांकरी शब्दों में राजा का नाम और उसके साथ सती हुई रानियों, ख़वासियों और रकालियों की संख्या अंकित है।

प्रथम दो लेखों का सार नीचे दिया गया है

1. श्री संवत् 40
श्री राजा सुरग लोक
जो बरधिया
फाल्गुण प्र. 15,
सुरज सेन सुखाली पंचमी तिथि।

2. श्री संवत् 55
श्री राजा सुरग लोक जो होए
सौज प्र. 12, शाम सेन
सुरग लोक जो होए
श्री रानी 5, खबासी 2
रकाली 37

पिंजौर के शिलालेख

किसी समय पिंजौर सिरमौर रियासत का एक मुख्य नगर था। बाद में इसे पटियाला में मिला दिया गया। मुसलमानों ने यहाँ कई बार आक्रमण किए, जिसके फलस्वरूप यहाँ के मंदिर को पूर्णतया गिरा कर वहाँ मस्जिद खड़ी कर दी गई। कनिंघम ने यहाँ के कुछ लेखों का वर्णन किया है, जिनमें से दो मस्जिद की बाहरवाली दीवार पर अंकित बताए हैं तथा एक पानी के चश्मे के साथ लगे पत्थर पर है। सब से पुराना लेख इतना टूटा हुआ था कि उसे पढ़ा नहीं जा सकता था। दूसरा लेख पूरा था केवल उसका एक किनारा टूट गया था। इस लेख के आरंभ में गणपति की स्तुति की गई है।

तीसरा लेख 9 ज्येष्ठ, शुक्रवार संवत् 56 का है, जिसे कनिंघम ने इस प्रकार पढ़ा था

1. *ओं। स्वस्ति! संवत् 56..... जेठ शुदि 9 वार शुक्र! श्री लखन राम देव श्री कोटाधिपति धामनवा*
2. *श्री सेठी गोगा। ठाकुर श्री छजूका; ठाकुर श्री माधर।*
   कुटुआला श्री लोलकर पाक
3. *तेलू-सुत...... कजिया-सुत विजल, लाल-सुत धामू रलाधिरा।*

हिमाचल में विभिन्न लिपियों के साक्ष्य

डॉ. शमी शर्मा

कांगड़ा क्षेत्र का भू-भाग त्रिगर्त प्रदेश के अंतर्गत आता है। इसका सम्बंध सृष्टि सृजन के साथ होने से इसमें प्रागैतिहासिक काल की संभावनाएँ जुड़ी हैं। इतिहासकार पं. भगवद् दत्त ने भारत वर्ष में त्रिगर्त को कांगड़ा मानकर ज़िला जालंधर और होशियारपुर का समस्त पर्वतीय स्थल (पर्वत के साथ लगता समतल भू-भाग) कांगड़ा के राजाओं के अधीन बताया है। त्रिगर्त शब्द वैसे भी दो शब्दों से बना है। 'त्रि' का अर्थ तीन और 'गर्त' का अर्थ गढ़ा है। इससे अभिप्राय है तीन नदियों शतद्रु (सतलुज), विपाशा (व्यास) और इरावती (रावी) के मध्य का प्रदेश। वस्तुतः त्रिगर्त कांगड़ा का ही पर्याय सिद्ध होता है। यह त्रिगर्त (कांगड़ा) प्रदेश पुरातात्त्विक साक्ष्य जुटाने में एक महत्त्वपूर्ण निर्णायक भूमिका निभाता है।

त्रिगर्त प्रदेश के भूभाग गुरदासपुर, पठानकोट, नूरपुर, होशियारपुर आदि स्थानों में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में ईसा की प्रथम शती के लेख उपलब्ध हुए हैं। वस्तुतः कांगड़ा, होशियारपुर और गुरदासपुर में औदुंबरों का राज्य था। इतिहासकार कनिंघम ने कांगड़ा ज़िला के नूरपुर को इस जनजाति का क्षेत्र माना है। रावी, व्यास, सतलुज नदियों की घाटियों में बसे उदुंबर अथवा औदुंबर जनजाति के ताँबे के सिक्कों पर 'औदुंबरस' लेख अंकित है, जो संस्कृत के *औदुंबरस्य* का प्राकृत रूप है। ये सिक्के दो सौ वर्ष ईसा पूर्व से प्रथम शताब्दी ईसवी तक के हैं।

कुणिंदों (कुलिंदों) के सिक्कों की प्राप्ति के आधार पर पर्वतीय क्षेत्र से इनका स्थान सम्बद्ध होने की पुष्टि होती है। इन सिक्कों के दो वर्ग हैं। पहले पर 'अमोघ भूति' और दूसरे पर कुणिंदों के देवता 'छत्रेश्वर' या शिव का नाम अंकित है। इनमें से अमोघ भूति वाले सिक्के ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के और छत्रेश्वर वाले दूसरी या तीसरी शती के माने जाते हैं। इतिहासकार को कांगड़ा ज़िला से ही कुलूत का ताँबे का गोल सिक्का प्राप्त हुआ है। उस पर अंकित ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि

के आधार पर उसे ईसा की पहली या दूसरी शती का माना जाता है। कांगड़ा के धर्मशाला, खनियारा, पठियार क्षेत्र में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि के इसी काल के शिलालेख भी उपलब्ध हैं।

कल्हण ने '*राज तरंगिणी*' में कई राजाओं की वंशावलियों के साक्ष्य उपलब्ध करवाए हैं। इतिहासकार कनिंघम ने इन वंशावलियों के महत्त्व को समझते हुए कांगड़ा के कंटोच वंश के नामों की कड़ी में, जिसमें संस्कृत श्लोकों में 500 पीढ़ी का वर्णन है, महाभारतकालीन राजा सुशर्मचंद को 238वाँ राजा बताया है। '*राज तरंगिणी*' के अनुसार कल्हण महाभारत काल से लेकर सातवीं शताब्दी और आगे के ऐतिहासिक विवरणों को प्रस्तुत करता है, जो कश्मीर के राजाओं का प्रामाणिक दस्तावेज़ है। इसके अनुसार राजा ललितादित्य ने सन् 695-731 ई. के मध्य पर्णोत्स (वर्तमान पुंछ) को बसाया। उसके शासनकाल में कश्मीर अपने सैन्य बल के कारण अत्यधिक शक्तिशाली था। उसी के काल में शारदा लिपि में संस्कृत के ग्रंथों का निर्माण हुआ। ललितादित्य और आवंति वर्मन के राज्यकाल में कश्मीर संस्कृत भाषा और हिंदू संस्कृति का महान केंद्र रहा। सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक वहाँ बिल्हण, क्षमीश्वर, आनंदवर्धन, कल्हण, जगद्धरभट्ट, उत्पल देव, उद्भट्ट, वामन, रुद्रट, अभिनव गुप्त, भट्ट मुकुल, भट्टातीत, कुंतल, महिमा भट्ट, मम्मट संस्कृत के प्रकांड विद्वान् हुए। इस काल में भारत के अन्य स्थानों पर बहुत से ग्रंथ शारदा लिपि में लिखे गए, जो पांडुलिपियों के रूप में विभिन्न संग्रहालयों में विद्यमान हैं।

उस समय का ही शारदा लिपि में लिखित बैजनाथ मंदिर का शिलालेख इसका साक्ष्य है। इस लिपि को पढ़नेवाले महापंडित राहुल सांकृत्यायन ही हैं। उन्होंने शिलालेख पर लिखी तिथियों को शकाब्द 726 अर्थात् सन् 804 ई. पढ़ा है, किंतु कुछ विद्वान् उसे विवादास्पद मानते हैं। इतिहासकार कनिंघम और बूलर 804 ई. को सही मानते हैं। प्रशस्तियों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि नौवीं शताब्दी के आरंभ में कीर ग्राम में राजा लक्ष्मण चंद्र नामवाले राजानक (राणा) की गद्दी थी। वस्तुतः नौवीं शताब्दी का आरंभ ही था, जब मंदिर बना, अतः राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिथि के बारे में दर्शाया तथ्य सही है।

बैजनाथ का शिव मंदिर शारदा लिपि के शिलालेखों के लिए हिमाचल प्रदेश में ही नहीं, समस्त भारत में प्रसिद्ध है। मंदिर के अंदर लगभग बीस मुरब्बा फुट के मंडप की उत्तरी और दक्षिणी दीवारों पर शारदा लिपि में प्रशस्तियों के रूप में दो शिला-पट्टियाँ लगी हैं। दोनों प्रशस्तियों का रचयिता सुदूर कश्मीर का कवि शृंगारा और भृंगक पुत्र राम था। प्रथम शिलालेख में संस्कृत के 39 श्लोक हैं। इस शिलालेख का अंतिम श्लोक इस प्रकार है

संवत्सरे शीति तमे प्रसन्ने ज्येष्ठस्य, ज्येष्ठस्य शुक्ल प्रतिपदा तिथौ
श्री मज्जयचंद्र नरेंद्र राज्ये रविदिने रामकृताऽ प्रशस्ति।

दूसरी प्रशस्ति जो सामने लगी है, वह भी श्रृंगारा और भृंगक के पुत्र राम कवि की ही है, किंतु वह फीकी लगती है। प्रशस्ति रचयिता के कश्मीरी होने तथा शारदा लिपि के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिगर्त प्रदेश कांगड़ा और कश्मीर राज्य के आपस में घनिष्ठ सम्बंध रहे हैं। प्रशस्ति के शारदा लिपि में लिखे संस्कृत श्लोकों का अर्थसार इस प्रकार से है

शकाब्द 726 (सन् 804 ई.) में जब यह शिलालेख उत्कीर्ण हुआ, उस समय जालंधर या त्रिगर्त पर जयचंद्र राजा का शासन था। द्वितीय प्रशस्ति, श्लोक छह में लिखा है *गुणों के निधि जालंधराधिराज जयचंद्र की जय हो*। जालंधर की दूसरी राजधानी सुशर्मपुर थी, जो कांगड़ा का शायद दूसरा नाम है। वहीं के शिल्पकार ढोढक और सूत्रधारासिक पुत्र नायक ने मंदिर का निर्माण किया। प्रासादों द्वारा अपनी कीर्ति को अमर करनेवाले इस बात का बहुत कम ध्यान रखते थे कि जिन हाथों और दिमाग ने ये विशाल महल खड़े किए, उनका भी कुछ हक़ होता है। दासता थी कि उन्हें सामंतशाही के उस ज़माने में, जो मुट्ठी भर अन्न और कुछ पैसे मिल जाते थे, वही पर्याप्त समझा जाता था। बिंदुका नदी के तट पर कभी किसी ने शिवलिङ्ग स्थापित किया था, जिसे स्थापित हुए कई शताब्दियाँ बीत चुकी हैं कोई उसके स्थापक का नाम भी नहीं जानता। लिंग के ऊपर संभवतः लकड़ी का कोई मंदिर बना होगा, जो नष्ट हो गया होगा। शंकर को खुले आसमान के नीचे तपस्या करनी पड़ी होगी; अतः त्रिगर्त के अभिराम गुण गणनिलय राजानक (राणा) लक्ष्मण द्वारा रक्षित कीरग्राम के इस शिवलिङ्ग की यह अवस्था (निरालय वैद्यनाथ शिवलिङ्ग) देखकर मन्युक और आहुक ने मंदिर और मंडप को बनवाया होगा।

मन्युक और आहुक अपने और अपने कुल को अमर करते हुए अपने स्वामी राजानक लक्ष्मण चंद्र तथा उनके कुल को नहीं भूले। उन्होंने जहाँ अपनी केवल चार पीढ़ियों का ही नाम गिनाया है, वहाँ राणा की दस पीढ़ियों का ज़िक्र किया है कंद के पुत्र बुद्ध, फिर उद्दुर, विग्रह, ब्रह्म, डोम्बक, भुवन, कल्हण, बिल्हण तथा अंतिम लक्ष्मण चंद्र। ये सामंत त्रिगर्त नृपतियों के पादपद्मोपजीवी थे (2:20)। राजानक बिल्हण के राम और लक्ष्मण दो पुत्र थे। राम के न रहने पर लक्ष्मण कीरग्राम के अधिपति हुए। दोनों सहोदरों की माँ लक्षणा थी, जिसने वैद्यनाथ भगवान को प्रलम्ब ग्राम में एक हल जोतने लायक भूमि दान दी थी। राजानक लक्ष्मण की पत्नी का नाम भयतल्ला था। राजानक ने केदार (गढ़वाल) की यात्रा से लौटकर पर-स्त्री पर कुदृष्टि डालना छोड़ दिया, जिसकी प्रशस्ति में महिमा गायी गई है।

सबसे अधिक योगदान मन्युक और आहुक का ही है। दोनों भाई 'अविभक्त वित्त' थे। मन्युक की भार्या का नाम गुल्हा था। सेठ की प्रशंसा करते कवि राम ने दूसरे बनियों को '*भास्त्रागर्भ गृहीत सर्वविभव*' यानी 'पास के इलाके में आना-जाना करनेवाले बेचारे बनिये कहा है (2:30)। मन्युक और आहुक निस्संदेह

बड़े व्यापारी रहे होंगे। शायद पहाड़ और नीचे देश के साथ होनेवाला बहुत-सा व्यापार उनके हाथ में था। आठवीं सदी के अंत में सिक्यांग (आधुनिक चीनी तुर्किस्तान) भोट (तिब्बत) के हाथ में था, जिसका राजनैतिक प्रभाव सारे हिमालय पर था। यदि प्रशस्ति का संवत् ठीक है तो उस समय का त्रिगर्त भी तिब्बत के साथ किसी न किसी तरह का घनिष्ठ सम्बंध रखता था। ऐसी स्थिति में मन्युक और आहुक का व्यापार क्षेत्र सिक्यांग तक फैला हुआ होगा। उनकी संपत्ति इस मंदिर में लगे धन के अनुरूप ही रही होगी, इसमें शक नहीं।

वैद्यनाथ मंदिर (बैजनाथ) के लिए केवल दोनों सेठ भाइयों ने ही दान नहीं दिया होगा, बल्कि इस पुण्य कार्य में दूसरे भी सम्मिलित हुए होंगे। आहुक भार्या '*अतिथि पूजनाय व्यग्रा*' (1:28) रहती थी। आगत अतिथियों और तीर्थ यात्रियों के भोजनादि का प्रबंध शायद इसी सेठानी ने अपने ऊपर ले रखा था। राजधानी सुशर्मपुर (नगरकोट कांगड़ा) के ब्राह्मण ज्योतिष आसुक के पुत्र रल्हण ने नवग्राम में स्थित अपनी भूमि का दो द्रोण खेत '*शिवे समर्पित*' किया।

कीर ग्रामवासी गोविंद ब्राह्मण के पुत्र धीमान गोपेश्वर ने आधे हल की भूमि दी (1:33)। शायद गोविंद की स्त्री तथा गोपेश्वर की माँ दीपिका थी। वित्तशाली महिला के पुत्र वणिक जीवक ने मंदिर के सामने के आँगन के लिए अपनी भूमि दी। द्वितीय प्रशस्ति में मन्युक और आहुक के चार पूर्व पुरुषों शाल, पालि, काहिल और सिद्ध का नाम आया है (2:33)। लिखा है कि दोनों सेठ भाइयों ने कीरग्राम में स्थित अपने तेल के कोल्हू तथा अपनी एक दुकान (पण्यशाला) मन्दिर को दी। नवग्राम स्थित हल योग्य भूमि भी प्रदान की। ऐसे पुण्य कार्य में राजानक की माता लक्षणा ने प्रलम्ब ग्राम में हल योग्य भूमि देकर सहयोग किया। इन दाताओं के नाम अमर करते हुए प्रशस्तिकर्ता कवि राम ने अपना परिचय देते हुए अपने पिता का नाम श्री भृंगक बतलाया है, जो कश्मीर नृपति के प्रमाता (मापक) थे।

कांगड़ा क्षेत्र में स्थित भगवान वैद्यनाथ शिव मंदिर में शारदा लिपि में अंकित यह प्रशस्ति एक मात्र प्रमाण है, जो तत्कालीन भारत में कश्मीर की शारदा लिपि के प्रचार-प्रसार को तो सिद्ध करती ही है, साथ ही कश्मीर राज्य के साथ त्रिगर्त राजाओं की घनिष्ठता की भी द्योतक है। यह बैजनाथ का स्थान एवं शिव मंदिर प्रागैतिहासिक ऋग्वेद काल का स्मारक है, जिसका प्राचीन नाम कीरग्राम, किर जाति यानी किरातों के आवास से जुड़ता है। यही वह स्थान है, जहाँ ऋग्वैदिक आर्य नेता दिवोदास और सुदास ने निरंतर चालीस वर्ष युद्ध करके किरात नेता अनार्य जनजाति के शंबर को हराया और दुरूह पर्वतीय अधित्यकाओं में धकेल दिया और उसके सौ दुर्गों को छीन लिया था।

कांगड़ा (त्रिगर्त) के विविध स्थलों की इतिहास गरिमा लिपियों व भाषाओं के साक्ष्य लिए प्रागैतिहासिक काल, पौराणिक काल, बुद्ध और पाणिनि काल के

संजोए विशाल पत्थरों, टीलों, गुफ़ाओं एवं मंदिरों की पट्टियों में अनुबद्ध हैं। ये पट्टियाँ ब्राह्मी, खरोष्ठी और टांकरी में कांगड़ा शैली चित्रों, राजाओं के संधिपत्रों, ऐतिहासिक वृत्तों, बही-खातों, घरेलू बंटवारों, प्रमाण पत्रों, पुराने बर्तनों, बटलोहियों पर भी विद्यमान हैं। योल के पास नागा पांडव का विशाल पत्थर है। ऐसा ही एक जिया में है। मसरूर के विशाल मंदिर एक ही पत्थर से तराशे हुए बने हैं। इन साक्ष्यों के स्थान एवं केंद्र कांगड़ा ज़िला के अंतर्गत चड़ी, चैतड़, खनियारा, पठियार, नरवाणा, सिद्धबाड़ी, लाखा मंडल, धर्मशाला आदि हैं। धौलाधार शैलमाला के चरणों में नूरपुर से लेकर बैजनाथ तक एक सीधी पट्टी निकलती है, जिस पर विविध गणराज्यों ने समय-समय पर अपने साक्ष्य छोड़े हैं।

पठियार प्राचीन काल में बहुत बड़ा नगर और व्यापारिक केंद्र था। आज भी वहाँ के शिलालेख जीवंत लिपि-साक्ष्य हैं। प्राचीन काल में इस मार्ग से मंडी, कुल्लू, मध्य एशिया व तिब्बत तक व्यापार होता था। लाखा मंडल पठियार के पास अभी कुछ वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध की भूमि-स्पर्शी पत्थर की मूर्ति उपलब्ध हुई है। औदुंबर तक्षशिला से गंगा तक जानेवाले व्यापारिक मार्ग पर बसे थे। यह मार्ग मगध से लेकर कश्मीर तक हिमालय की मुख्य घाटियों में से निकलता था। वस्तुतः पठानकोट, चम्बा, नूरपुर, कांगड़ा, बैजनाथ आदि व्यापारिक संधि-स्थल रहे हैं। यहाँ से औदुंबरों के भारी सिक्के प्राप्त हुए हैं। सिक्कों पर 1. *महादेवसा राणा सिवदय*, 2. *महादेवसा राणा रुद्रदास*, 3. *महादेवसा राणा घटाघोष* नामों के साथ 'औदंबरास' भी खुदा है। इन पर त्रिशूल अंकित है। औदुंबरों ने ताँबे और चाँदी के सिक्के चलाए थे, जो ईसा की पहली शती के थे। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में कुणिंदों ने अपने राज्य का विस्तार मैदानों तक कर लिया था। उनके सिक्कों पर '*अमोघ भूति*' नाम अंकित है। कहीं पर '*राजन कुलिंदस्य अमोघ भूतिस्य*' भी अंकित है। इन्हें दूसरी-तीसरी शताब्दी का मानते हैं। सिक्कों के दूसरी ओर त्रिशूलधारी शिव है, वह तीसरी शती का है। कुलूत गणराज्य के सिक्के, जो ताँबे के हैं और इन पर संस्कृत में 'वीर राजन् कुलूतस्य' खुदा है। ये दसवीं शती के हैं, जिसका उल्लेख दूसरी ओर संस्कृत तथा खरोष्ठी भाषा एवं प्राकृत में है। कुल्लू का ही पहली या दूसरी शताब्दी का एक सिक्का है, जो ब्राह्मी लिपि में है और जिस पर '*राजन कुलोतस्य वीरयस्य*' का उल्लेख है। इसमें एक अक्षर 'राणा' खरोष्ठी में अंकित है।

ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में धर्मशाला, खनियारा, पठियार आदि स्थानों पर ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में शिलालेख मिले हैं। धर्मशाला कोतवाली बाज़ार से जो सड़क खनियारा को जाती है, उसमें चौरान खड्ड के श्मशान घाट पर सांकेतिक लिपि में एक शिलालेख है। जिस में लिखा है कि एक ब्राह्मण ने बेताल को वश में कर लिया और उससे खेत खुदवाने लगा। एक दिन ब्राह्मण की अनुपस्थिति में उस बेताल ने उत्पात मचाया और जब ब्राह्मण ने उसका कुकृत्य देखा तो उसे वश

में करके वहीं गाड़ दिया।

इस शिलालेख से तीन किलोमीटर आगे खनियारा के कंडी गाँव में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में दो शिलालेख मिले हैं, जो पुरातत्त्व विभाग द्वारा सुरक्षित किए गए हैं। इनमें खरोष्ठी में *'कृष्णा अस्य आराम'* तथा ब्राह्मी में *'कृष्णा आस्य अरामा मैदानस्य'* अंकित है। आस्य का अर्थ शौर्य है। शिलालेख के अनुसार बौद्ध कृष्ण नामक व्यक्ति का यह स्थान था। इससे सात किलोमीटर नीचे चैतड़ बौद्ध धर्म का प्रमुख केंद्र रहा है। यहाँ पर एक चैत्य स्तूप था। 'चैतड़' शब्द उसे चैत्य का ही अपभ्रंश रूप है। यहाँ से भगवान बुद्ध की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जो लाहौर के संग्रहालय में हैं। पठियार में एक प्राचीन शिलालेख और तालाब है, शिलालेख पर ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में *'रासी तरासा व्यालुस प्रकरणी'* अंकित है, जिसका अर्थ है *'तरासा नाम की राठी जाति के व्यक्ति का बाग़ और तालाब'*। इस से दो किलोमीटर नीचे लाखा मंडल में पुरानी लाल ईंटें और बुद्ध की भूमिस्पर्शी मूर्ति छह साल पूर्व उपलब्ध हुई है, जो संभवतः पठियार से लाई गई थी।

पहाड़ी भाषा की प्रथम लिपि टांकरी 1800 ई. में प्रारंभ हुई। शारदा लिपि का प्रयोग पाँचवी शताब्दी से आरंभ हो कर नौवीं शताब्दी तक रहा। इसका मूल स्थान कश्मीर रहा। ईसा से पूर्व और तुरंत बाद ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियाँ प्रचलित थीं। अठारहवीं शताब्दी में व्यापारी लोग अपने बही-खातों में टांकरी लिपि का प्रयोग करते रहे। इसमें जिन वर्णों का प्रयोग होता है, वे वर्ण सभी ज़िलों में समान नहीं होते। कांगड़ा और चम्बा के राजाओं द्वारा प्रयुक्त टांकरी में अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक वर्ण थे। धर्म प्रचारक भी टांकरी का प्रयोग करते थे। वास्तव में टांकरी शारदा का ही एक रूप है। हुलर के अनुसार यह लिपि शारदा लिपि का ही प्रवाही रूप है, जिसका प्रयोग बही-खातों, घरों के हिसाब-किताब, बंटवारों और शाही फ़रमानों में होता रहा है।

संदर्भ

1. युग-युगीन त्रिगर्त, समन्वयक : डॉ. शमी शर्मा, संपादक : डॉ. रवि प्रकाश आर्य, भारतीय इतिहास संकलन समिति, हिमाचल प्रदेश।
2. हिमाचल प्रदेश का इतिहास : मंगत राम वर्मा, भारतीय इतिहास संकलन समिति, हिमाचल प्रदेश।

ब्राह्मी लिपि की वैचारिक भूमि

कृष्ण लाल शर्मा

भाषा मनुष्य का सबसे बड़ा आविष्कार है। समाज की संरचना इसी के द्वारा संभव हो पायी है। समाज का छोटा या आदिम रूप पशु-पक्षियों में भी मिल जाता है, किंतु उसके विकास के लिए, उसे व्यापक एवं व्यवस्थित रूप देने के लिए, जिस वैचारिक आदान-प्रदान के नियमों के निर्धारण अथवा विधान की आवश्यकता होती है वह भाषा द्वारा ही संभव थी। मनुष्य ने वह विकसित की और आगे बढ़ा।

भाषा की उत्पत्ति के लिए अनेक सिद्धांतों की कल्पना की गयी है, जैसे देवी उत्पत्ति सिद्धांत, ध्वनि अनुकरण सिद्धांत, यो-हे-हो सिद्धांत, इंगित सिद्धांत आदि। किंतु मनुष्य की आवश्यकता केवल इतने तक सीमित नहीं रही कि वह बोलकर उन वस्तुओं, घटनाओं या विचारों तथा क्रियाओं का बोध करा सके, जो केवल मुद्राओं द्वारा संभव नहीं था। इससे भी बड़ी आवश्यकता यह थी कि भाषा का श्राव्य रूप जो प्रकट होते ही विलुप्त हो जाता था, उसे स्थायित्व कैसे प्रदान किया जाए, काल को वश में कैसे किया जाए। समाज संरचना के सबसे बड़े साधन के रूप में यदि उसने भाषा के उच्चरित रूप का विकास किया तो उसी दिशा में दूसरा बड़ा आविष्कार करते हुए उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए उसके दृश्य रूप की रचना की। इस दिशा में किये गये उसके विभिन्न प्रयास ही लिपि का इतिहास बन गये। सभी उच्चरित रूप दृश्य-रेखाओं में परिणत नहीं हुए। अनेक बोलियाँ आज भी अपने भाषित रूप में ही विद्यमान हैं और उनमें से अनेक विलुप्त भी हो गयी हैं, इस तथ्य से हम सभी परिचित हैं। किंतु जो रेखाओं में परिणत हुए उनमें से यहाँ ब्राह्मी पर विशेषतः और यूनानी एवं रोमी वर्णों पर गौणतः विचार किया जा रहा है।

लेखन के आरंभ, अर्थात् लिपि की उत्पत्ति के सम्बंध में भी अनेक सिद्धांत प्रचलित हैं। उन पर विचार करने से पहले हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि विश्व के अनेक स्थानों पर (जिनमें भारत के प्रागैतिहासिक स्थल भी सम्मिलित हैं)

जो गुहा चित्र मिलते हैं, उनमें लिपिशास्त्री भले ही लिपि का आद्य रूप न देखते हों किंतु उन्हें शुद्ध चित्रकला का उदाहरण मानना भी सही नहीं हैं। उन्हें किसी घटना का मात्र दृश्यानुकरण भी नहीं कहा जा सकता जैसे कि बाद में आख्यानक चित्र (नैरेटिव पेंटिंग्ज़) बने। वह शिकारी संस्कृति का काल था। उस काल में सभी देशों में शिकार के चित्र बहुतायत में बने। वे चित्र शिकार के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी भी देते हैं, जैसे कि पशु कैसे आक्रमण करता है, उसका गर्भस्थल कहाँ है, उसके स्वभाव की जानकारी, जहाँ तीर लगने से वह वश में हो जाता है, आदि। उस युग में पशु की आकृति-प्रकृति की सूचना कितनी महत्त्वपूर्ण रही होगी इसकी कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार की कुछ जानकारी फ्रांस के चित्रलिखित कंकड़-पत्थरों से भी दी जाती रही होगी, जो आज भी हमारे लिए रहस्य बने हुए हैं। सूचना का यह आदान-प्रदान अथवा अपने ही स्मरणार्थ कुछ लकीरें खींच कर या गांठें बाँध कर हिसाब-किताब रखना एवं घटना का किसी अन्य माध्यम में अनुकरण वस्तुतः ध्वनि के उस दृश्यमान रूप का विकल्प है, जिसका लक्ष्य है काल को जीत लेना। लिपि का आविष्कार भी उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हुआ है।

लिपि का प्रथम लक्ष्य है वस्तुबोधकता। यह साम्य के आधार पर चित्र द्वारा भी हो सकता है और प्रतीक द्वारा भी। साम्य आधारित दृश्य रूप इंद्रिय बोध की प्रधानता का संकेत देते हैं और प्रतीक विचार की प्रधानता का। इस आधार पर हम लिपि के दो वर्ग कर सकते हैं। एक वह जो वस्तुबोधक दृश्य आकार में आये परिवर्तन से आज शुद्ध प्रतीकात्मक बन गयी है। उसका आज का रूप भले ही इतना बदल गया हो कि उसका चित्रात्मक रूप क्या रहा होगा, यह जानना सामान्य व्यक्ति के लिए असंभव है। किंतु लिपिशास्त्री उसके बीच के रूपों से परिचित हैं। इसलिए उनके बारे में कहा जाता है कि अमुक वर्णमाला चित्रात्मक लिपि का विकास है। मिस्र की प्राचीन लिपि को इसके विशिष्ट उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। चीनी लिपि आज भी चित्रात्मक है।

दूसरे वर्ग में वह लिपि आती है, जिसमें वर्ण किसी गोचर रूप का वाहक बनकर वस्तुबोधक होने का आधार लिये हुए न हो। उसकी रचना का आधार कोई विशिष्ट दृष्टिकोण/विचार हो। ब्राह्मी लिपि को हम इसी वर्ग के अंतर्गत रखते हैं। विश्व की यही एकमात्र लिपि है, जो अपने वैचारिक आधार के कारण इस स्थान की अधिकारिणी है। हमारा तर्क वही है कि ब्राह्मी के पहले यदि यहाँ कोई लिपि थी तो वह भी चित्रात्मक नहीं थी। हमारी स्थापना केवल यह है कि ब्राह्मी लिपि का स्वरूप निर्धारण जब भी हुआ, चाहे जिस भी प्रेरणा से हुआ, एक विशिष्ट चिंतन के परिणामस्वरूप हुआ। इसका प्रमाण है वक्र और खड़ी रेखा का संतुलन, वर्गों का विभाजन और उनमें एक व्यवस्थित क्रम। यह किसी प्राकृतिक विकास के परिणामस्वरूप नहीं हो सकता। तुलना के लिए यूनानी और रोमी/लातीनी लिपि को लिया जा

सकता है—

	यूनानी वर्ण	
	बड़ा	छोटा
अल्फा	A	α
बीटा	B	β
गैमा	Γ	γ
डेल्टा	Δ	δ
एप्सिलॉन	E	ε
ज़ीटा	Ζ	ζ
ईटा	H	η
थीटा	Θ	θ
आयोटा	I	ι
[illegible]	Ψ	ψ

रोमन/लातीनी वर्ण	
बड़ा	छोटा
A	a
B	b
C	c
D	d
E	e
F	f
[illegible]	[illegible]

इनका उच्चारण अंग्रेज़ी वर्णों की तरह ही किया जा सकता है।

ऊपर हमने दोनों वर्णमालाओं में से कुछ ही वर्ण लिये हैं क्योकि इनके माध्यम से भी हम अपनी बात पूरी तरह से कह सकते हैं। यूनानी वर्णमाला में पहले नौ वर्ण लिये हैं और फिर तेईसवाँ। लातीनी के पहले सात वर्ण क्रमानुसार हैं। तीन त्रुटियाँ इनमें एकदम स्पष्ट हैं

1. वर्णों के नादमय रूप और उनके अभिधान में तालमेल नहीं है। पहले कभी रहा हो तो अलग बात है। वर्ण का अभिधान एक स्वतंत्र शब्द बन गया है।

2. वर्ण-क्रम किसी भी नियम का पालन नहीं करता। स्वर और व्यंजनों को अलग-अलग रखने का कोई प्रयत्न नहीं है और न व्यंजनों में उच्चारण को लेकर कोई क्रम-व्यवस्था है। यूनानी में पहला वर्ण 'अ' है, जो स्वर है, उसके तत्काल बाद 'ब' व्यंजन आ जाता है, जो ओष्ठन है। तीसरा वर्ण 'ग' है जो फिर व्यंजन है और कंठ्य है। चौथा व्यंजन 'ड' मूर्धन्य है। एकाएक बीच में फिर स्वर आ जाता है, जो वस्तुतः संयुक्त स्वर है क्योंकि उसका उच्चारण 'ए' की तरह होता है। मूल स्वर के रूप में 'इ' स्वर नवें स्थान पर है। स्पष्ट है कि यहाँ न स्वर-व्यंजन जैसा कोई भेद है, न व्यंजनों में उच्चारण-भेद के आधार पर कोई क्रम रखा गया है। अंत में तेईसवाँ वर्ण एक स्वतंत्र व्यंजन न हो कर संयुक्त व्यंजन 'स' है। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि इन त्रुटियों के परिहार के लिए कभी कोई प्रयत्न नहीं हुआ।

3. तीसरा बड़ा दोष है वर्णों के बड़े और छोटे रूपों की बनावट में अंतर होना। कहीं-कहीं तो इनमें परस्पर कोई भी समानता नहीं दिखाई देती। उदाहरण के लिए 'ईटा' वर्ण लें। इसके बड़े और छोटे रूप कहीं भी एक-दूसरे से मेल खाते हुए नहीं दीखते। ऐसी स्थिति में इस वर्णमाला में वैज्ञानिक आधार की कल्पना करना भी असंभव है। ठीक यही स्थिति लातीनी वर्णमाला की भी है।

इनकी तुलना में जब हम अशोककालीन ब्राह्मी लिपि पर विचार करते हैं तो उस समय के शिलालेखों से प्राप्त अक्षर-समूह निश्चित ही हमें आश्चर्य में डाल

देते हैं। उनमें छह स्वर, एक अनुस्वार चिह्न तथा तैंतीस व्यंजनों के अक्षर-संकेत मिलते हैं। संभव है कुछ और ध्वनियों के भी संकेत-चिह्न रहे हों पर वे उपलब्ध नहीं हैं। इन अक्षर समूहों से एक व्यवस्थित वर्णमाला की ओर हमारा ध्यान अवश्य जाता है, स्वर वर्ग में भी और व्यंजन वर्ग में भी। तब तक पाणिनि की अष्टाध्यायी की रचना हो चुकी थी, यास्क भी निघंटु की व्याख्या कर चुके थे। एक बात और, यास्क ने निरूक्त में जिस निघंटु की व्याख्या की है एकमात्र वही निघंटु नहीं है, विद्वानों के अनुसार उस समय पाँच निघंटु प्रचलन में थे। निघंटु अर्थात् कोश। इनके भी पहले प्रातिशाख्यों और शिक्षा-ग्रंथों (जिन्हें सामान्य भाषा के व्याकरण ग्रंथ कहा जा सकता है) की रचना हो चुकी थी। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनि का काल ई.पू. 5 वीं शताब्दी माना है। इस आधार पर काल गणना करें तो कहा जा सकता है कि पश्चिम में जब यूनानी और लातीनी लिपियाँ जन्म ले रही थीं, उस समय भारतवर्ष में संस्कृत ध्वनियों का वर्गीकरण हो चुका था और वह इतना प्रौढ़ था कि आज तक लगभग वही प्रचलित है।[1]

ये सभी तथ्य संकेत देते हैं कि यहाँ भाषा के प्रयोगों को नियमों में बाँधने का काम बहुत पहले आरंभ हो गया था। लोक प्रयोगों में शिथिलता अवश्य रही होंगी। अतः उसके सभी पक्षों पर (अक्षर, शब्द तथा वाक्य इन सभी के संदर्भ में) गंभीर चिंतन कर उसे व्यवस्थित करने के प्रयत्न होने लगे थे। फिर भी जो न्यूनताएँ रही होंगी उन्हें पाणिनि ने पूरा कर लिया। अष्टाध्यायी की प्रशंसा में ब्लूमफ़ील्ड ने लिखा है, "यह मानव मनीषा का श्रेष्ठतम कीर्तिस्तंभ है। आज तक किसी अन्य भाषा का इतनी पूर्णता के साथ आख्यान नहीं हुआ है।" [2] काशिका सूत्र (पणिनीय व्याकरण पर लिखी एक वृत्ति) में एक संदर्भ आया है कि सनकादि ऋपियों की प्रार्थना को स्वीकार कर नटराज शिव ने नृत्य के अंतराल में अपने डमरू को चौदह बार बजाया। ये ही वे चौदह सूत्र हैं (जिन्हें माहेश्वर सूत्र भी कहा जाता है) जिन पर अष्टाध्यायी आधारित है।

संस्कृत जैसी जटिल भाषा को इतने संक्षेप में बाँधना भारतीय मनीपा के ही बस की बात थी। इस संपूर्ण चर्चा के पीछे हमारा उद्देश्य केवल यह दर्शाना है कि भाषा के उच्चरित रूप को व्यवस्थित करना (वर्णमाला की सुव्यवस्था उसी की आरंभिक क्रिया है), अर्थात् उसे वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करना, जिन ऋषियों का लक्ष्य रहा, उन्होंने ही लिपि को भी वैचारिक आधार दने का प्रयास किया होगा। उसे वस्तुबोधक चित्रों के सहारे छोड़ देना उनके स्वभाव के विरुद्ध रहा होगा। कुछ तथ्य इस निष्कर्ष को प्रमाणित भी करते हैं। किंतु उन पर विचार करने से पहले हम वर्णमाला की क्रम-व्यवस्था के विषय को लेना चाहते हैं।

भारतीय लिपि पर लिखे गये डॉ. मुरली मनोहर जोशी के लेख में एक आख्यान वर्णित है। तैत्तिरीय संहिता के संदर्भानुसार देवताओं के सामने समस्या यह

थी कि बोलने के तत्काल बाद 'वाक्' देवी अदृश्य हो जाती है। आज की भाषा में कहें तो शब्द की कर्णगोचरता क्षणभर में समाप्त हो जाती है। उसे स्थिर करना, काल में बाँधना या स्वतंत्र सत्ता देना असंभव प्रतीत हो रहा था। तब वे इंद्र के पास गये और प्रार्थना की, *'इआं बात विआकुरू'* अर्थात् इस 'वाक्' को आकार प्रदान कीजिए। इस वाक्य पर डॉ. जोशी की टिप्पणी है कि 'वाक्' को साकार करने का अर्थ है, लेखन की प्रक्रिया बतलाइये। केवल नाम से ही काम नहीं चलेगा, रूप भी चाहिए। तब इंद्र ने कहा कि आप लोग यज्ञ में 'वायु' को भी हिस्सा दें तब यह संभव होगा। देवताओं ने इंद्र की बात मान ली और इंद्र ने उनकी प्रार्थनानुसार वाणी को आकार दिया *तस्मात् इयं विआकृता वाक् उच्यते*। तब से यह दृश्यवाणी के रूप में जानी जाती है। इस सम्बंध में वाकंकर महोदय का मत है कि इंद्र ने वाणी का संस्कार किया तभी से इसका नाम संस्कृत पड़ गया।

यह प्रसंग संकेत दे रहा है कि ब्राह्मी लिपि चाहे जिस काल में भी प्रकाश में आयी हो, पर आयी एक निश्चित विचारधारा/सिद्धांत के अंतर्गत, चित्रों के रूप-परिवर्तन की अंतिम परिणति इसे नहीं मान सकते। किंतु हम इससे एक कदम आगे बढ़कर यह भी स्थापित करना चाहते हैं कि वाणी को लिखित रूप देने की आवश्यकता जब भी अनुभव की जाने लगी होगी तो उन मनीषियों के सामने लक्ष्य मात्र इतना ही नहीं होगा कि पहले से प्रचलित नाद संकेतों को क्या दृश्य संकेत/लिखित आकार दें, बल्कि यह भी रहा होगा कि वर्णों का उच्चारण भी स्थिर किया जाए, उनमें क्रम-व्यवस्था भी लायी जाए। वे इस स्थिति से परिचित थे कि उच्चरित रूप की वैज्ञानिकता ही उसके लिखित रूप में भी प्रतिफलित होगी। गणपति अथर्वशीर्ष का दिशा-निर्देश स्पष्ट है *गणादिं पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनंतरं*। अर्थात् पहले ध्वनिग्राम का उच्चारण कीजिए फिर अक्षरग्राम की आकृति बनाईये। यह उच्चारण और लेखन का युगपत् सम्बंध था, जिसे उस काल के मनीषियों ने समझा और दोनों ही क्षेत्रों में अपनी व्यवस्थाएँ दीं। डॉ. शिवराममूर्ति ने इस तथ्य को विशेष रूप से रेखांकित किया है कि प्राचीन भारत में लिपि सीखने की परम्परागत रीति अक्षरों का उच्चारण करना और साथ-साथ लिखना ही रही है। उस समय पाठशालाओं को इसीलिए लिपिशाला कहा जाता था।

उपर्युक्त आख्यान में वर्णों के उच्चारण को स्थित करने की ओर भी संकेत है। 'आकार देना' का सामान्य अर्थ दृश्य रूप प्रदान करना स्पष्ट है, किंतु इसका विस्तारित अर्थ 'व्यवस्थित रूप देना' भी हो सकता है। इसकी सिद्धि तभी हो सकती है यदि उसे व्यवस्था में बाँधकर स्थिर किया जा सके। वर्ण के लिखित रूप को निश्चित आकार देना यदि एक लक्ष्य हो सकता है तो उसके उच्चरित रूप को निश्चित ध्वनि, आकार देना दूसरा लक्ष्य होना ही चाहिए। स्थिति कुछ इस प्रकार रही होगी। हम 'ख' वर्ण को लेते हैं। एक व्यक्ति इसका उच्चारण ऐसे कर सकता

है, जो 'क' के निकट हो। दूसरा ऐसे, जिसमें 'क्ख' की संयुक्त ध्वनि निकलती हो। तीसरा उसे 'ख' की तरह भी बोल सकता हे। बँगला में आज भी श, ष और स की ध्वनि एक जैसी ही उच्चरित होती है। अतः आवश्यकता होने पर उन्हें 'तालव्य, मूर्धन्य या दंत्य कहकर स्पष्ट करना पड़ता है। क्या यह स्थिति अ-वैज्ञानिक नहीं है। यह एक समस्या थी।

दूसरी समस्या थी कि उसे बोलने में कितनी कालावधि लगनी चाहिए। यहीं मात्रा का प्रवेश हो जाता है। किसी वर्ण के उच्चारण में एक मात्रा है, दो है या तीन यह स्थिर होना चाहिए। फिर यह देखना भी आवश्यक है कि संयुक्त स्वरों का उच्चारण कैसा हो ? साथ ही संयुक्त व्यंजनों की समस्या भी रही होगी। आख्यान में इंद्र का समाधान कि 'यज्ञ में वायु को भाग देने से वाक् देवी को आकार मिलेगा' एक रहस्यमय उक्ति है। क्या इसका यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि पहले यह जानो कि वर्ण के उच्चारण में वायु ध्वनि यंत्र के किस भाग को घर्षित करके बाहर निकल रही है, घर्षित कर भी रही है या नहीं तथा उच्चारण करते समय मुख की मुद्रा कैसी हो जाती है? यह आधार है सघोष और अघोष में भेद करने का, अल्पप्राण और महाप्राण में अंतर करने का, मूल और संयुक्त स्वर एवं व्यंजनों के वर्गीकरण का तथा ध्वनियों को कंठ्य, तालव्य आदि वर्गों में विभाजित करने का। इस व्यवस्था/नियम निर्धारण से ध्वनियों का आकार सुनिश्चित हो जाता है। आज हम बड़ी सरलता से कह देते हैं कि अमुक व्यक्ति दंत्य 'स' का उच्चारण तालव्य 'श' की तरह करता है। कल्पना कीजिए उस स्थिति की जब इस वर्ग भेद का अता-पता नहीं था और इस सम्बंध में कोई नियम भी नहीं था। उस अव्यवस्थित स्थिति को व्यवस्थित में बदलना कितना दुष्कर कार्य रहा होगा और इसके लिए कितनी विलक्षण बुद्धि की आवश्यकता रही होगी। यह भूमिका है हमारी उस स्थापना की, जिसका सम्बंध शिव के चौदह बार डमरु बजाने के आख्यान से है। वस्तुतः यह स्थापना तो विद्वन्मंडली पहले ही कर चुकी है, हम तो उनका अनुकरण करते हुए उसका केवल पुनः प्रतिपादन कर रहे हैं।

सामान्यतः अशोककालीन ब्राह्मी लिपि को ही इसका आदि रूप मान लिया जाता है और कालांतर में स्थान भेद से इसमें जो भी परिवर्तन आये, उन्हें ही क्रमानुसार इसका विकास मान लिया गया। यह ध्यान देने की बात है कि अशोक ने अपने प्रस्तर लेखों में कहीं भी ब्राह्मी शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उसने 'धम्मलिपि' का प्रयोग किया है। 'ब्राह्मी' अर्थात् जिसकी उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई हो। शब्द के इस अर्थ के आधार पर इसके प्रति उसकी उदासीनता समझ में आ सकती है, परन्तु दूसरी तरफ वह धर्म का प्रचार भी कर रहा था, इसलिए उस आधार पर लिपि का नामकरण एक भिन्न दृष्टि का परिचायक है। किंतु बौद्ध, जैन और ब्राह्मण ग्रंथों के साक्ष्य 'ब्राह्मी' शब्द के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। 'ललित विस्तर' में

चौंसठ लिपियों के नाम दिये गये हैं। उनमें सबसे पहला नाम ब्राह्मी है और यह बौद्ध ग्रंथ है।[3] यहाँ, इस नामकरण से भिन्न हमारे सामने विचारणीय प्रश्न यह है कि अशोक के पहले भी ब्राह्मी लिपि का कोई रूप था। बूलर जैसे पाश्चात्य विद्वानों का मत रहा कि ब्राह्मी लिपि फिनीशियाई लिपि के आधार पर बनी है; किंतु भारतीय विद्वानों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि यह आर्यों की अपनी खोज है। इतना ही नहीं एल. ए. वाडेल तथा ए.बी. वाला वलकर तो इस मत के हैं कि उल्टे यूनानी और रोमी लिपियाँ ही ब्राह्मी से प्रभावित रही हैं। फलतः एडवर्ड थॉमस जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने अब यह स्वीकार कर लिया है कि ब्राह्मी अक्षर भारतवासियों द्वारा ही बनाये हुए हैं और उनकी सरलता से उनके बनानेवाले की बुद्धिमत्ता प्रकट होती है[4] इस तथ्य का और खुलासा करते हुए लिपि विशेषज्ञ गुणाकर मुले लिखते हैं–

"अब तो अधिक संभव यही जान पड़ता है कि सिंधु लिपि से ही ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ है। सिंधु लिपि के संकेतों में और ब्राह्मी लिपि के संकेतों में कुछ साम्य भी देखने को मिलते हैं। संभव है 1000 ई. पू. के आसपास सिंधु लिपि के आधार पर किसी 'प्राक्-ब्राह्मी' का निर्माण किया गया हो और कालांतर में इसी का परिष्कार होने पर ब्राह्मी लिपि अस्तित्व में आयी हो।"[5]

विद्वानों में अब इस पर सर्वसहमति बन गयी है कि 'प्राक्-ब्राह्मी बहुत पहले अस्तित्व में आ चुकी थी। कब आयी इस उलझन में न पड़ कर यह समझना चाहिए कि उसके अक्षरों का रूप क्या रहा होगा। इस सम्बंध में लिपि विशेषज्ञ एल. एस. कंकर ने ए. वी. वालावलकर महोदय से सहमति प्रकट करते हुए टिप्पणी की है कि "इस लिपि के वर्ण प्रवाही वक्रता लिये हुए थे, अशोक के काल में वे कोणात्मक हो गये। इसे वस्तुतः उनकी अधोगति कहना चाहिए। सौभाग्य की बात है कि इनका जब नागरी/देवनागरी की दिशा में फिर से विकास हुआ तो उनमें प्रवाही वक्रतावाली प्रकृति पुनः आ गयी।"[6] उनके इस कथन को हम निम्न तीन उदाहरणों के प्रकाश में देखें–

		'अ' का स्वरूप	'क' का स्वरूप	'ग' का स्वरूप
प्राक्-ब्राह्मी	=	[illegible]	[illegible]	[illegible]
अशोककालीन ब्राह्मी	=	𑀅	𑀓	𑀕
मध्ययुगीन नागरी	=	[illegible]	क	ग
वर्तमान नागरी	=	अ	क	ग

परिवर्तन का उपर्युक्त क्रम तीन वर्णों तक सीमित होने पर भी कथन की सत्यता सत्यापित करने के लिए पर्याप्त है। यहाँ यह जानने का हमारे पास कोई

साधन नहीं है कि अशोक कालीन लिपि के कोणात्मक होने के पीछे क्या कोई विशेष कारण भी रहा। हाँ, इतना समझा जा सकता है कि लिपिकारों को जो वर्णमाला मिली उसके कुछ नमूने उनके पास अवश्य रहे होंगे; पर वे कहाँ के होंगे और उन्होंने उन्हें कितना बदला या नहीं बदला, इस सबके बारे में इतिहास मौन है।

अब दूसरा प्रश्न? वालावलकर एवं वाकंकर इन दोनों महोदयों से यह तो पूछा ही जाना चाहिए कि उन्हें अपनी उपपत्ति 'प्राक्-ब्राह्मी लिपि प्रवाही वक्रता लिये हुए थी" इस का आधार कहाँ से मिला? 'गणेश-विद्या' में इसका उत्तर दिया गया है। वहाँ वाकंकर महोदय ने जो कहा है उसके अनुसार इसके दो स्रोत हैं। यहाँ हमें फिर से कहना है कि हमारे सामने प्रश्न यह नहीं है कि लिपि का जन्म किस काल खंड में हुआ और किसके द्वारा हुआ; यह संयुक्त प्रयास था या कि एक व्यक्ति की देन है। हम मात्र इस विश्वास से प्रेरित हैं कि यह लिपि एक शास्त्रीय चिंतन का परिणाम थी, न कि किसी अन्य लिपि के अनुकरण अथवा चित्र-संकेतों के सहज विकास का नतीजा। इसलिए जब हमारे विद्वान द्वय यह कहते हैं कि इसकी रचना का आधार (जो लिपि के आदि जनक ने भी लिया होगा) शिव के डमरू के दोनों ओर के अर्धचंद्र के आकार (∞/8= ()/⁀) हैं तो हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। डमरू का मध्य भाग एक बिंदु के रूप में है। जिसके दोनों ओर अगल-बगल या ऊपर-नीचे विश्व के नाना रूपों का, निश्चित ताल लिये हुए, विकीरण होता रहता है। काशिका सूत्र के इस वाक्य '*नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपंच वारम्*' अब पुनः विचार करें और इसे समझने के लिए किसी कत्थक नृत्य के कार्यक्रम का स्मरण करें। नृत्य करते-करते नर्तक बीच में रुकता है और परन बोलता है, फिर उसी परन को नृत्य में रूपांतरित करता है। इसी तरह नटराज शिव नृत्य करते-करते बीच में रुकते हैं, चौदह सूत्रों को डमरू नाद के रूप में व्यक्त करते हैं फिर, उसी नाद रूप को नृत्य के लयात्मक दृश्य रूप में परिणत करते हुए प्रकट करते हैं। पूरी प्रक्रिया नाद की लय को दृश्य की लय में व्यक्त करने का एक रूपक है। हमें समझना चाहिए कि यदि नाद में लय है, प्रवाह है तो वह कोणात्मक रूपों में कैसे व्यक्त होगा। इस प्रसंग को अब इतिहास की पृष्ठभूमि में देखें।

वेदों की रचना हो चुकी थी, ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रंथों का भी प्रणयन हो चुका था। किंतु यह सब मौखिक था और भाषा की गति तो रुकती नहीं। एक समय ऐसा आया, जब वैदिक भाषा और जनभाषा में बहुत दूरी आ गयी, किंतु वेद-पाठ की परंपरा का पालन तो होना ही था और वह भी स्वराघातों की सुनिश्चित पद्धति के अनुसार ही। परम्परा भी कहती थी कि उच्चारण सम्बंधी कोई भी अशुद्धि साधारण दोष नहीं पाप है। उस पाप का भागी भला कौन होना चाहेगा। स्थिति की गंभीरता को हृदयंगम किये बिना शिव द्वारा माहेश्वर सूत्रों की रचना के रूपक को समझना संभव नहीं है। जब तक कला की भाषा (वैदिक साहित्य) और व्यवहार की

भाषा में दूरी नहीं आयी थी तब तक उस भाषा को समझने-समझाने की समस्या भी नहीं थी। यह समस्या तब पैदा हुई जब वेदों की भाषा उन लोगों को सिखाने की आवश्यकता हुई, जो उससे परिचित नहीं थे या कम परिचित थे। तभी उसके नियमों की भी खोज शुरू हुई और उन ध्वनियों को दृश्यात्मक रूप देने की आवश्यकता भी अनुभव होने लगी। ध्वनियों और भाषा के उच्चारण और लेखन का युगपत् सम्बंध यहीं से आरंभ होता है। वेद-पाठ में संगीत की ताल थी, उसी के अनुरूप वर्णों की लेखन क्रिया में भी ताल का संधान स्वाभाविक था। संयोग से डमरू के आकार में उन्हें वह प्रवाहमयी वक्रता मिली और उसे उन्होंने अपना लिया। उसमें दिव्य भाव का संस्पर्श वस्तुतः लिपि में अंतर्निहित विश्व लय का वह सूक्ष्म रूप है, जो मनुष्य की चेतना को कहीं बहुत गहरे प्रभावित करता है। इस बात तक किसी गहन चिंतन द्वारा ही पहुँचा जा सकता है।

अपनी उपपत्ति के दूसरे स्रोत के रूप में इन सज्जनों ने 'गणपति-अथर्वशीर्ष' के उस अंश को लिया है (इसका एक अंश ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)। इसमें गणेश देवता के बीज अक्षर 'गँ' के लेखन की प्रक्रिया समझायी गयी है, जिसके आधार पर लिपिशास्त्र को 'गणेश-विद्या' नाम दिया गया है। यह अंश है

गणादिं पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनंतरं।। अनुस्वारः परतरः।। अर्धेंदुलसितं।। तारेणरुद्धं।। एतत्तवमनुस्वरूपं।। गकारः पूर्वरूपं।। अकारोमध्यमरूपं।। अनुस्वारश्चांत्यरूपं।। विंदुरुत्तररूपं।। नादः संधानं।। सँहितासंधिः।।

इसमें पहले उच्चारण फिर लेखन की प्रक्रिया का उल्लेख है। लेखन के अंतर्गत स्तोत्र का रचयिता अनुस्वार और अर्द्धचंद्र की वक्ररेखा ँ को बतलाना नहीं भूलता। फिर 'गँ' लेखन की पूरी क्रिया को क्रम से स्पष्ट करता है। क्रम है

सबसे पहले 'गकार' व्यंजन ' ◌ ' लिखो, यह उसका पूर्व भाग है। 'अकार' उसका मध्यम भाग है फिर वह लगाओ, इसका चिह्न है खड़ी पाई '।'। 'अनुस्वार' इसका अंतिम भाग है, जिसका चिह्न है बिंदु ' ˙ '। अब इसका पूर्ण रूप हुआ ' ◌। ' तथा इसका एक अक्षर की तरह उच्चारण करो।

ऊपर की प्रक्रिया में संरचनागत दो मूलभूत तत्त्वों को उजागर किया गया है। एक अर्द्धचंद्राकार वक्र रेखा, जो व्यंजन का प्रतीक है और दूसरी खड़ी पाई, जो स्वर का प्रतीक है। व्यंजन का स्वतंत्र रूप से उच्चारण करना हो तो स्वर का योग आवश्यक है, बिना इसके उच्चारण संभव ही नहीं है। विश्व की किसी भी लिपि में व्यंजन के उच्चारण के लिए स्वर के इस तरह के योग का विधान नहीं है। यह उनकी सबसे बड़ी त्रुटि है। ऐसा विधान तो तब होता यदि उसकी रचना को वैज्ञानिक दृष्टि से देखा गया होता। इधर भारतीय लिपिशास्त्री ने न केवल इस अनिवार्यता को समझा, बल्कि यह भी समझा कि आकार में संतुलन लाने के लिए वक्रता के साथ खड़ी पाई ही उपयुक्त है। ब्राह्मी लिपि में खड़ी पाई का महत्त्व संरचना और सौंदर्य

दोनों दृष्टियों से है, चाहे वह मध्य में आये (जैसे 'क' में), ऊपर आये (जैसे 'ट' में) या अंत में आये (जैसे 'प' में), किंतु वर्ण की पूर्णता के लिए उसका होना अनिवार्य है। गीता के 10वें अध्याय में भगवान् कृष्ण का यह कहना '*अक्षराणामकारोऽस्मि*' इसका स्पष्ट प्रमाण है। बस ये ही वे चिंतन बिंदु हैं, जिनके समीकरण से वाकंकर महोदय ने 'प्राक्ब्राह्मी' लिपि का स्वरूप निर्धारित किया, जो नागरी लिपि के मूल में आज भी विद्यमान है।[7]

संदर्भ

1. भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान, पृ. 522
2. वही, पृ. 520
3. गुणाकर मुले, अक्षर-कथा, पृ. 168
4. वही, पृ. 170
5. वही, पृ. वही
6. गणेश-विद्या, पृ. 5
7. वही, पृ. 11

लेखन कला और अभिलेख

डॉ. कमल के. प्यासा

ऐतिहासिक स्रोतों में अभिलेखों की अपनी विशेष भूमिका रही है; क्योंकि कोई भी ऐतिहासिक पक्ष इन से अछूता नहीं रहता। आज जो कुछ हमारे सामने है, जिसे हम अपनी पुस्तकों में पढ़ते हैं या देखते हैं, सब इन अभिलेखों की ही देन है। इतिहासकारों व पुरालिपि-शास्त्रियों ने अनेक जानकारियाँ अभिलेखों से पढ़कर ही जन-जन तक पहुँचाई हैं। प्रश्न उठता है कि लेखन कला का चलन कैसे हुआ? यह भी एक खोज का विषय है।

हिन्दू विचारधारा के अनुसार लेखन कला व लिपि के आविष्कारक ऋषि ब्रह्मा को माना जाता है। इसकी पुष्टि प्राचीन बौद्ध साहित्य को पढ़ने से भी हो जाती है। बौद्ध साहित्य में ऐसा बताया गया है कि बायें से दायें लिखी जानेवाली लिपि को लिखनेवाला 'फांग' था। 'फांग' शब्द का प्रयोग प्राचीन चीनी बौद्ध-साहित्य में ब्रह्मा के लिए ही किया गया है। आगे इसी तरह से जैन साहित्य (ललित विस्तर) में भी ब्राह्मी लिपि को एक महत्त्वपूर्ण लिपि बताते हुए कहा गया है कि इसके आविष्कारक ब्रह्मा ही थे।

ब्राह्मी लिपि के आधार पर ही दो अन्य लिपियों की भी पहचान हो जाती है, जो कि ब्राह्मी की तरह लिखी जाती हैं, जिनमें से एक खरोष्ठी है तथा दूसरी द्राविड़। जैन साहित्य (दृष्टिवाद) के अनुसार ब्राह्मी लिपि के 46 मूल चिह्न बताए गए हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्राह्मी लिपि में ई. पू. तृतीय शताब्दी में 46 अक्षर थे और इसके व्यंजनों तथा स्वरों की स्थिति से प्रमाणित हो जाता है कि इस लिपि को संस्कृत की आवश्यकताओं के अनुसार ही बनाया गया था।

कुछ विद्वानों के मतानुसार आर्यों के आगमन के पश्चात् ही लेखन कला का विकास हुआ था, लेकिन हड़प्पाकालीन संस्कृति को देखते हुए यह मत मान्य प्रतीत नहीं होता। प्रसिद्ध लेखक मैक्समूलर ने भी लेखन कला की शुरुआत ई. पू.

800 से पूर्व नहीं मानी। इसी प्रकार यूनानी राजदूत मैगस्थनीज़ (ई.पू. चौथी शताब्दी) ने भी अपने वर्णन में भारतीय मार्गों पर अनेक प्रस्तरों की चर्चा करते हुए उन पर हुई अंकों की खुदाई का वर्णन किया है तथा लिखा है कि भारतीय लोग लेखन कला से परिचित थे। इतना ही नहीं पाणिनि की अष्टाध्यायी से भी भारतीयों के लेखन लिपि से परिचित होने की पुष्टि हो जाती है तथा कहा जा सकता है कि भारत में लेखन कला का चलन ई. पू. 1000 से हो चुका था।

ई. पू. तीसरी शताब्दी में सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का खूब प्रचार किया गया, जिसका प्रमाण बौद्ध धर्म से सम्बन्धित लेखों को पढ़ने से मिल जाता है तथा इन्हीं लेखों से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि ब्राह्मी लिपि का विकास सम्राट अशोक के समय में काफी हो चुका था। उस समय के पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़कर शेष सभी अभिलेख ब्राह्मी लिपि में ही लिखे मिलते हैं।

अभिलेखों की विस्तृत जानकारी हेतु पुरालिपि शास्त्र का ज्ञान होना अति आवश्यक है, क्योंकि इसी शास्त्र के द्वारा किसी स्थान की प्राचीन ऐतिहासिकता जानी जा सकती है। वैसे देखा जाए तो कुछेक अभिलेखों में तिथियों का अंकन मिल जाता है; लेकिन बहुत से ऐसे अभिलेख भी देखने में आए हैं, जिनमें तिथियों या काल का कहीं भी उल्लेख नहीं है। ऐसे अभिलेखों के वास्तविक मूल्यांकन हेतु पुरालिपि शास्त्र की ही मदद लेनी पड़ती है।

अभिलेखों का चलन

अभिलेखों का इतिहास में अपना विशेष स्थान है, इसमें कोई दो मत नहीं। आधुनिक और मध्ययुगीन अनेक साधन जैसे कागज़, भोजपत्र और ताड़पत्र आदि प्राचीन काल में अज्ञात थे। इसीलिए लेखकों ने राजाओं के आदेशों व प्रशस्तियों को लिखने के लिए साधनों की खोज शुरू कर दी थी। ई. पू. की सदियों में प्रस्तरों का सहारा लिया गया। ऐसी चट्टानें देखी जाने लगीं, जो मुख्य व आम आने-जानेवाले रास्तों में होती थीं। राज्य की सीमाओं पर राजा के आदेश प्रस्तर खण्डों पर अंकित किए जाने लगे। आगे चलकर समय व स्थान विशेष को ध्यान में रखते हुए अभिलेखों का उत्कीर्णन शुरू हो गया। इसके पश्चात् यही उत्कीर्णन कई अन्य रूपों में भी होने लगा, यथा 1. प्रस्तर स्तम्भों पर, 2. धातु स्तम्भों पर, 3. गुहा की दीवारों पर, 4. शिला खण्डों पर, 5. प्रतिमा की चरणपीठ पर, 6. ताम्र पत्रों व पट्टों पर, 7. मोहरों (मिट्टी से बनी छाप) पर तथा 8. सिक्कों पर।

हिमाचल प्रदेश से प्राप्त होनेवाले अभिलेखों के रूप कुछ इस प्रकार हैं 1. शिला खण्ड पर, 2. मन्दिरों की दीवारों में जड़ित, 3. स्मृति शिल्प के रूप में, 4. प्रतिमा की चरणपीठ पर, 5. देवी-देवता के मुखौटों पर, 6. ताम्र पट्टों व पत्रों पर, 7. पिण्डी व मूर्ति के आधार तल पर, 8. सिक्कों के उत्कीर्ण रूप में।

अभिलेख विन्यास

अभिलेख चाहे कहीं भी अंकित हों, लेकिन उनको लिखते या अंकित करते समय उनकी सजावट व बाहरी विन्यास का पूरा-पूरा ख्याल रखा जाता रहा है। विशेषकर पंक्तियों को सीधी रेखा में तथा चारों तरफ से उचित स्थान रखने के लिए ज़रूर ध्यान दिया जाता था। मंडी से प्राप्त जालिम सेन के ताम्रपट्ट में लेख की पंक्तियों को सीधा रखने के लिए विशेष ध्यान रखा गया है। इसी तरह से त्रिलोक नाथ मंदिर (मंडी) के अभिलेख में भी पंक्तियाँ सीधी रेखा में देखी जा सकती हैं। चम्बा रियासत के कई ताम्रपट्ट लेख, जिनमें सुन्दर लिखावट व सीधी-सीधी पंक्तियाँ देखने को मिलती हैं, आज भी चम्बा संग्रहालय में देखे जा सकते हैं। अपवाद के रूप में मंडी में स्मृति शिलालेखों (बरसेलों) के अभिलेखों की पंक्तियाँ है, जो पूर्ण रूप से सीधी नहीं हैं। स्मृति शिलालेखों की सजावट का विशेष ध्यान रखा गया है। शिलालेख के चारों ओर सपाट हाशिए दिखाए गए हैं व हर कलाकृति के लिए अलग से अलंकृत खाना बनाया गया है।

हमारे समाज में किसी भी कार्य या कृति की सफलता हेतु उसके आदि, मध्य और अन्त में मंगल चिह्न रखने का विधान शुरू से ही रहा है। ये मंगल चिह्न शब्द या प्रतीक किसी भी रूप में मिल जाते हैं। सम्राट अशोक के दो आदेश-लेखों तथा उसके पश्चात् के चार पंक्तियोंवाले सभी अभिलेखों के आदि, मध्य और अन्त में मंगल चिह्न मिलते हैं। इन चिह्नों में स्वस्तिक या धर्म-चक्र पर त्रिरत्न तथा चैत्य वृक्ष का चिह्न आम प्रचलित थे। आगे चलकर पाँचवीं शताब्दी में कुछ अन्य नए चिह्न भी मिलने लगते हैं। 'ओऽम्' महामंगल का चिह्न माना गया है और यही चिह्न अभिलेखों के अन्त में और कभी-कभी ताम्र-पट्टों के हाशियों में भी देखा गया है। मंडी के ज़ालिम सेन के ताम्रपट्ट अभिलेख के ऊपर की तरफ शुभ (मंगल) चिह्न गणपति की बैठी मुद्रा के साथ अंकित किया हुआ देखा जा सकता है। वैसे भगवान गणपति को भी मंगल चिह्न के रूप में ही लिया जाता है। इसी ताम्र-पट्ट अभिलेख के अन्त में भी शुभ लिखा मिलता है।

प्रस्तर अभिलेखों में कहीं-कहीं मानव आकृतियों को भी मंगल रूप का प्रतीक माना जाता रहा है। इन आकृतियों के अतिरिक्त शंख, कमल, फूल, नदी, मीन, सूर्य, चक्र, तारक तथा पत्तों आदि को भी मंगल चिह्न माना गया है। हिमाचल प्रदेश के कई स्थानों से प्राप्त होनेवाले प्राचीन व आहत वाले सिक्कों पर अभिलेखों के साथ-साथ इन मंगल चिह्नों को देखा गया है।

अभिलेखों में भूल सुधार व छूटे शब्दों का अंकन

ग़लत अंशों को अधिकतर अभिलेखों में कटे हुए देखा गया है, जैसे कि सम्राट अशोक के लेखों में ग़लत अंशों को रेखांकित करके दिखाया गया है। इसी

प्रकार से लेखन-त्रुटि को दिखाने के लिए पंक्ति के ऊपर की तरफ या फिर नीचे की तरफ बिन्दू या छोटी-छोटी-सी लकीरें बना दी जाती थीं। लेकिन ताम्र-पट्टों के ग़लत अंशों को हथौड़े से ही पीट-पीटकर सम कर दिया जाता था और फिर रगड़कर चिकना करने के पश्चात् उसी जगह पर फिर से नए अंश या अक्षर खोद दिए जाते थे। यदि किसी लाईन में भूल से कोई शब्द या अक्षर रह जाता था तो उसे पंक्ति के ऊपर की तरफ या फिर पंक्ति के नीचे की तरफ अंकित कर दिया जाता था। कभी-कभी इस प्रकार की ग़लती का सुधार शब्दों या अक्षरों के मध्य थोड़े से स्थान में ही छोटे या तिरछे रूप में उकेर कर ठीक कर दिया जाता था। बाद में इसी भूल सुधार को, जहाँ से कोई छूट हो जाती थीं; उसी स्थान पर एक सीधा खड़ा या झुका हुआ क्रास बना उस छूटे शब्द को इंगित किया जाने लगा था। क्रास के इस निशान को काक-पद या हँस-पद के नाम से जाना जाता था। प्राप्त अभिलेखो में कहीं-कहीं छूटे हुए शब्द या अक्षर हाशिये या पंक्तियों के मध्य में भी नज़र आते हैं।

अभिलेखों में कई शब्दों को संक्षिप्त रूप में लिखने का भी चलन था। इस प्रकार की संक्षिप्तियों के उदाहरण उत्तर-पश्चिम के कुषाणकालीन अभिलेखों में देखे जा सकते हैं। काल गणना के लिए सबसे पहले सम्वत् लिखा जाता था। फिर वर्ष की संख्या, मास का नाम, पक्ष का नाम व अंत में तिथि अंकित करने का चलन रहा है। हिमाचल प्रदेश से मिलनेवाले अभिलेखों में प्रविष्टे (तिथि) के लिए संक्षेप में प्र., शुक्ल पक्ष के लिए शु या सु, दिन के लिए दि. ही अंकित किया मिलता है। इन अभिलेखों में भी पहले सम्वत्, फिर वर्ष, मास व बाद में ही तिथि उकेरी हुई मिलती है। मंडी के स्मृति शिलालेखों (बरसेलों) में जिन-जिन संक्षिप्तियों को पढ़ा गया है, वे कुछ इस प्रकार से हैं

मूल शब्द	**संक्षिप्त शब्द**
सम्वत्	सम्.
कार्तिक	काती.
प्रविष्टे	परा.
फागुन	फा.

प्राचीन सिक्के भी अपने अभिलेखों के माध्यम से बहुत कुछ बता देते हैं। धर्मशास्त्रों में सिक्कों के महत्त्व के बारे में जानकारी देते हुए बताया गया है कि किसी भी शासक को अपनी शासन व्यवस्था ठीक रूप से चलाने के लिए, सबसे पहले अपने सिक्के चलाने चाहिए। सिक्कों से ही उस समय के शासक का नाम, उसकी वंशावली, उसकी आर्थिक स्थिति, उसके कुल-चिह्न (पशु-पक्षी या देवी-देवता) का पता चलता है। सिक्के पर खुदे अभिलेखों को पढ़ने से ये सभी जानकारियाँ मिल जाती हैं। प्रदेश के कई भागों से प्राप्त सिक्कों पर अभिलेखों के साथ-साथ कुछ आकृतियाँ देखने को मिली हैं, जो इस प्रकार से हैं

क्र.	सिक्कों पर अंकित आकृति	अभिलेख लिपि	सिक्कों की धातु	सिक्कों का सम्बंध	सिक्कों का काल
1.	त्रिशूल बैल मानव	खरोष्ठी	ताम्बा	कुषाणकालीन	दूसरी श.ई.पू.
2.	मृग/नारी वृक्ष स्वस्तिक त्रिभुज	खरोष्ठी ब्राह्मी	ताम्बा	कुणिंदकालीन	प्रथम श.ई. पू.
3.	कार्तिक स्वामी भाले के साथ	ब्राह्मी	ताम्बा	यौद्धेयकालीन	प्रथम व द्वितीय
4.	खड़ी पड़ी आयतें	ब्राह्मी	चाँदी	गाद्धियकालीन	-
5.	चक्र/पौधा पत्ता किरण चक्र/अर्ध-वृत्तोंवाली पहाड़ी	-	चाँदी	आहत	छठी श.ई.पू.
6.	-	फारसी(उर्दू)	ताम्बा चाँदी/सोना	मुगलकालीन	-
7.	पंख/पत्ता	फारसी (उर्दू) गुरुमुखी (टांकरी)	ताम्बा/चाँदी	सिखकालीन	

अभिलेख लौह स्तम्भों, देवी-देवता के मोहरों व अष्टधातु की बनी प्रतिमाओं के आधार पर भी कहीं-कहीं पढ़ने को मिल जाते हैं। चम्बा के लक्ष्मी-नारायण मंदिर की प्रतिमा, उदयपुर (लाहुल-स्पीति) की मृकुला देवी की प्रतिमा तथा मंडी के माधव राव मंदिर की प्रतिमा के अभिलेखों को आज भी पढ़ा जा सकता है।

ताम्र-पट्टों पर लेख खुदवाने का चलन गुप्तकाल से ही आरम्भ हुआ प्रतीत होता है, जो मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते बहुत ही उपयोगी हो गया। कुमार गुप्त प्रथम के दामोदरपुर के ताम्र लेख अति प्रसिद्ध हैं तथा इन्हें गुप्त सम्वत् 124 तथा 128 में खोद कर तैयार किया गया था और इन दोनों ताम्र-पत्रों में दान देनेवाले द्वारा दी गई भूमि का विवरण मिलता है। साथ ही दानकर्ता शासक की वंशावली व शासक के क्षेत्र आदि की भी जानकारी प्राप्त हो जाती है।

चम्बा, मंडी व कुल्लू के शासकों द्वारा भी इस तरह से ताम्र-पट्टों द्वारा भूमिदान की जानकारी मिलती है। ऐसा ही एक ताम्रपट्ट जो मंडी के शासक राजा जालिम सेन (1826-1839) द्वारा भूमि दान के समय लिखवाया गया था, उससे मात्र राजा जालिम सेन के अधिकार क्षेत्र की जानकारी ही नहीं मिलती, बल्कि जिस व्यक्ति को भूमि का दान दिया गया था, उसके नाम की पहचान, गौरी शंकर नामक व्यक्ति के रूप में होती है। ताम्र पट्ट से ही इसे जारी करने की तिथि और सम्वत् का भी पता चलता है। इसके साथ-साथ बज़ीरधारी के नाम का उल्लेख भी इसमें किया गया है और अन्त में शुभ मंगल कामनाएँ भी लिखीं मिलती हैं। यह अभिलेख

(ताम्र-पट्ट) आज भी स्व. चन्द्रमणि के यहाँ सुरक्षित है।

एक अन्य ताम्र-पट्ट अभिलेख राजा अजबर सेन (1500-1534 ई.) द्वारा मधुसूदन नामक खत्री को, उसकी सेवाओं से खुश होकर, कृषि योग्य भूमि उपहार स्वरूप देने की जानकारी देनेवाला है।

चट्टानों व शिलालेखों के लेख

प्रदेश से प्राप्त होनेवाले शिलालेखों की लिपि देवनागरी (पहाड़ी नागरी) के साथ-साथ शारदा, ब्राह्मी व खरोष्ठी भी देखी गई है। इनमें मंडी के त्रिलोक नाथ मंदिर का अभिलेख शारदा लिपि में, राजाओं के स्मृति शिलालेख (बरसेले) पहाड़ी नागरी में तथा खनिहारा, धर्मशाला (कांगड़ा) से प्राप्त अभिलेख ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में हैं।

भारत के कुछेक भागों में प्राचीन काल में मुख्य रूप से दो लिपियों अर्थात् ब्राह्मी व खरोष्ठी का ही चलन था। इस बात की पुष्टि कई प्राचीन लेखों व सिक्कों के अध्ययन से हो जाती है तथा प्रदेश के कई स्थानों से इन लिपियों में प्राप्त सिक्कों से भी यह बात पक्की हो जाती है। अतः कहा जा सकता है कि भारत के अन्य भागों की तरह इस पहाड़ी प्रदेश में भी इन लिपियों का खूब चलन था। यहाँ से प्राप्त कुषाण, कुणिंद, यौद्धेय व अन्य सिक्कों पर ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि के अभिलेख देखे गए हैं। कुणिंद सिक्कों का अगर गहन अध्ययन किया जाए तो ऐसा आभास होने लगता है कि कुणिंदों के शासन काल में ही (तीसरी शताब्दी के मध्य से) खरोष्ठी लिपि का पतन शुरू हो गया था, क्योंकि बहुत से कुणिंद सिक्कों पर केवल ब्राह्मी लिपि के लेख ही देखने को मिलते हैं अर्थात् यौद्धेय सिक्कों पर तो केवल ब्राह्मी लिपि ही देखने को मिलती है। अपवाद के रूप में कहीं-कहीं दूसरी तरफ खरोष्ठी मिलती है। चौथी शताब्दी के पश्चात् ब्राह्मी लिपि में भी बदलाव आना शुरू हो गया था और फिर यही ब्राह्मी लिपि गुप्त ब्राह्मी के नाम से जानी जाने लगी थी। 7वीं से 13 वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते ब्राह्मी लिपि के कई रूप बन गए और यही ब्राह्मी भिन्न-भिन्न नामों से पुकारी जाने लगी।

ब्राह्मी लिपि के पश्चात् ही देवनागरी का चलन शुरू हुआ और आज इसी देवनागरी या पहाड़ी नागरी के बहुत से अभिलेख इस क्षेत्र में देखे गए हैं। सिक्कों के अभिलेखों में देवनागरी के साथ-साथ गुरुमुखी, टांकरी, फारसी (उर्दू), ब्राह्मी व खरोष्ठी आदि के लेख हैं।

प्रथम शताब्दी ई. में कनिष्क प्रथम के समय बौद्ध धर्म जब महायान के रूप में विकसित हुआ तो संस्कृत का प्रयोग भी शुरू हो गया था, क्योंकि उस समय हिन्दू धर्म ज़ोरों पर था। अन्ततः गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल में संस्कृत के चहुँमुखी विकास के फलस्वरूप अभिलेखों में भी संस्कृत का चलन शुरू हो गया। मंडी के

माधव राव मंदिर की (माधव राव) प्रतिमा की चौकी का अभिलेख संस्कृत में ही है। इसी प्रकार कुल्लू से प्राप्त एकमात्र सिक्के पर भी ब्राह्मी, खरोष्ठी के साथ-साथ संस्कृत भी देखी गई है। कुछेक संस्कृत के श्लोकोंवाली शिला-पट्टिकाएँ भुवनेश्वरी मंदिर मंडी में भी देखी गई हैं। अतः कहा जा सकता है कि अन्य स्थानों की तरह ही इस प्रदेश में भी संस्कृत का चलन मध्य काल तक चलता रहा था। बाद में जब संस्कृत भाषा में पतन आना शुरू हो गया तो इस क्षेत्र में क्षेत्रीय व आम बोल-चाल की भाषा का विकास शुरू हो गया, जिसे पहाड़ी नागरी के नाम से जाना जाने लगा। पहाड़ी नागरी की लिपि टांकरी थी तथा इसमें स्थानीय शब्दों का ही अधिकतर प्रयोग किया जाता था। मंडी के स्मृति शिलालेखों (बरसेलों) में पहाड़ी नागरी की टांकरी लिपि में, जो मंडयाली शब्द पढ़ने को मिलते हैं वे कुछ इस प्रकार से हैं

हिन्दी के शब्द	**अभिलेख का मंडयाली शब्द**
स्वर्ग	सुरग
को	जो
गया	बरदया
फागुन	फागण
कार्तिक	काति
दिन	परा, प्रविष्टे
अश्विन	सौज
चैत्र	चैत
पौष	पौस

अभिलेख कहीं पर भी क्यों न हो, लेकिन रहेगा तो अभिलेख ही, अर्थात् चट्टान, मूर्ति, धातु-पट्ट या फिर सिक्के पर अंकित लेख अभिलेख ही कहलाएगा। अभिलेखों से हर प्रकार की ऐसी जानकारी हो जाती है, जो अन्य स्रोतों से नहीं मिल पाती; क्योंकि इनमें उल्लिखित हर घटना व हर शब्द अपने आप में अपना इतिहास छिपाए रहता है। इतिहास राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक या फिर धर्म से सम्बंधित भी हो सकता है। ऐसा देखने में आया है कि पूर्व मध्यकालीन अभिलेख अधिकतर प्रशंसात्मक थे, क्योंकि मानव की यह प्रवृत्ति रही है कि वह अपने आश्रयदाता को जहाँ तक हो सके, खुश रखता है। गुप्त सम्राट तथा समुद्रगुप्त व उत्तरगुप्त वंश के अंतिम शासक जीवित गुप्त द्वितीय के अभिलेखों में लिखित पदवियों की ओर ध्यान से देखा जाए तो पता चलता है कि समुद्रगुप्त को प्रयाग प्रशस्ति में '*महाराजाधिराज*' कहा गया है। इसी प्रकार से एक अन्य अभिलेख में जीवित गुप्त की *परम माहेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर* पदवी का उल्लेख किया गया है। दोनों अभिलेखों की इबारत को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि समुद्रगुप्त, जो कि दिग्विजयी और शक्तिशाली शासक था, उसके लिए केवल

मात्र 'महाराजाधिराज' की उपाधि का उल्लेख किया गया है, जबकि एक साधारण शासक (जीवित गुप्त द्वितीय) को खुश करने के लिए बड़ी-बड़ी पदवियों का उल्लेख किया गया है।

अतः अभिलेख की महत्ता को समझने से पूर्व उसकी पुष्टि करनेवाले साधनों पर भी विचार करना ज़रूरी हो जाता है। इसलिए अभिलेखों की विषयवस्तु का गहन अध्ययन करके ही उस प्रशस्ति का ऐतिहासिक मूल्यांकन करना चाहिए। कहीं-कहीं घटना का उल्लेख बार-बार कई दूसरे अभिलेखों में भी मिल जाता है, जिससे उस घटना की ऐतिहासिक पुष्टि हो जाती है।

अभिलेखों के आधार पर ही शासकों की कीर्ति-यश, मान-सम्मान व शक्ति आदि का अनुमान भी लगाया जा सकता है। अभिलेख मात्र भाषा या लिपि की जानकारी ही नहीं देते, बल्कि उनके माध्यम से प्राचीन संकेतों, धातु-विज्ञान, शासन-व्यवस्था, सामाजिक व धार्मिक स्थिति के साथ ही साथ ऐतिहासिक एवं भौगोलिक स्थिति की भी जानकारी मिल जाती है।

सन्दर्भ

1. डॉ. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त अभिलेख
2. चीनी बौद्ध साहित्य : फांगशुलिन
3. फ्लीट : गुप्त इन्स्क्रिप्शन
4. जार्ज ब्यूलर : भारतीय पुरालिपि शास्त्र (हिन्दी अनुवाद : मंगलनाथ सिंह)
5. कनिंघम : आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, भाग-II
6. डॉ. एल.पी. पाण्डे : प्राचीन हिमाचल : इतिहास, धर्म एवं संस्कृति
7. पी. एल. गुप्ता : क्वाईन
8. डॉ. कमल कुमार प्यासा : 'मंडी जनपद सिक्कों की ज़ुबानी' गिरिराज साप्ताहिक 13.2.86
9. कमल के. प्रथी : मंडी के इतिहास के स्रोत (शोध ग्रन्थ)

पांडुलिपियों का वैज्ञानिक संरक्षण

सिद्धार्थ चंद्र

विश्व की सम्पूर्ण सांस्कृतिक धरोहर में से पचीस प्रतिशत धरोहर पांडुलिपियों के रूप में विद्यमान है। एक अनुमान के अनुसार भारत में इस समय पचास लाख पांडुलिपियाँ व्यक्तिगत संग्रहों, संस्थाओं, सरकारी विभागों और संग्रहालयों आदि में संगृहीत हैं। निश्चित ही ये हमारी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का बहुत बड़ा हिस्सा हैं और विश्व में इनकी संख्या किसी भी अन्य राष्ट्र की तुलना में कहीं अधिक है। यह गर्व का विषय है कि भारत आज सम्पूर्ण विश्व में प्रज्ञावान् गुरु के रूप में ख्याति प्राप्त है और इसका सबसे बड़ा कारण वह ज्ञान का भंडार है, जो हमारे ऋषि-मुनियों ने कई सौ वर्षों के गहन अध्ययन और ध्यान के पश्चात् अर्जित किया और फिर उसे लिपिबद्ध किया। ऐसी प्रकाशित पांडुलिपियाँ तो सैकड़ों में हैं, लेकिन बहुत-सी ऐसी महत्त्वपूर्ण पांडुलिपियाँ भी हैं, जो अपने मूल रूप में संगृहीत हैं और अब तक अप्रकाशित हैं।

आज इन पांडुलिपियों की स्थिति इतनी अच्छी नहीं है। बदलते समय और विचारधारा के चलते ये पांडुलिपियाँ बहुत ही तीव्र गति से नष्ट हो रही हैं और उपेक्षा के कारण विलुप्त होने के कगार पर हैं। एक अनुमान के अनुसार पिछले दो-तीन सौ वर्षों में ही हमने अपनी अमूल्य धरोहर का नब्बे प्रतिशत हिस्सा खो दिया है। इसके पीछे कारण चाहे जो भी रहे हों, परंतु आज हर भारतवासी का यह कर्तव्य होना चाहिए कि इन पांडुलिपियों को, जो हमारी सांस्कृतिक धरोहर और पहचान हैं, विलुप्त होने से बचाएँ। इस स्थिति में नष्ट होती पांडुलिपियों को बचाने में संरक्षण विज्ञान महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहा है। इस विज्ञान के अंतर्गत पांडुलिपियों को जैविक सामग्री में वर्गीकृत किया गया है। अन्य शब्दों में कहें कि वे पदार्थ, जो किसी ऐसे स्रोत से प्राप्त होते हैं जो कभी जीवित थे, इसे जैविक प्रवृत्ति का कहा जाता है, जैसे पेड़-पौधों की छाल, पत्ते, रेशे और जानवरों की खाल, अस्थियाँ, दाँत इत्यादि। इन सभी

को पांडुलिपियाँ बनाने के लिए इस्तेमाल किया गया है।

जैविक प्रवृत्ति होने के कारण पांडुलिपियाँ क्षरण की दृष्टि से बहुत संवेदनशील होती हैं। पांडुलिपियों की क्षति के कई कारण होते हैं जैसे-

(क) **प्राकृतिक कारण** : असंतुलित तापमान और आर्द्रता तथा अम्ल-क्षार का पैदा होना और सूर्य की सीधी किरणों या वर्षा का पड़ना आदि।

(ख) **जैविक कारण** : स्थिर वायु में फफूँदी का जन्म, दीमक और कीड़ों का आक्रमण, चूहों द्वारा पांडुलिपियों को नुकसान पहुँचाना और सबसे बड़ा कारण मनुष्य द्वारा जाने-अनजाने पांडुलिपियों को क्षति पहुँचाना।

(ग) **प्राकृतिक आपदा** : भूकंप, आग या बाढ़ इत्यादि में पांडुलिपियों का नष्ट होना जैसी प्राकृतिक आपदाएँ हैं।

पांडुलिपियों का संरक्षण विशेषज्ञता का क्षेत्र है। संरक्षण का कार्य चरणबद्ध तरीके से किया जाता है और सभी चरणों का वैज्ञानिक आधार होता है। इसी कारण इसे संरक्षण विज्ञान भी कहा जाता है। इसे मुख्यतया दो वर्गों में बाँटा गया है

1. सुरक्षात्मक संरक्षण
2. उपचारात्मक संरक्षण

सुरक्षात्मक संरक्षण

यह पांडुलिपियों और प्रलेखों को दिया जाता है, जो प्रायः क्षतिग्रस्त न हों, परंतु जिनके क्षतिग्रस्त होने की संभावना हो। सुरक्षात्मक संरक्षण के अंतर्गत जो चरण आते हैं, उनके लिए कुछ विशेष व्यवस्था की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसमें जो चरण प्रयोग में लाए जाते हैं, वे बहुत सरल होते हैं और इसे निजी संग्रहों, पुस्तकालयों, मंदिरों, मठों आदि में कोई भी सरलता से निभा सकता है। सुरक्षात्मक संरक्षण का महत्त्व इसलिए भी अधिक होता है, क्योंकि ताँबे, चमड़े आदि में प्रलेखित पांडुलिपियों की बनिस्बत कागज़, भोज-पत्र आदि की पांडुलिपियों के क्षतिग्रस्त होने की सम्भावना अधिक होती है, अतः इनके क्षतिग्रस्त होने से पहले ही इनके कारणों को पहचान कर इनका निवारण कर लिया जाता है।

सुरक्षात्मक संरक्षण में निम्नलिखित चरण महत्त्वपूर्ण हैं

1. जागरूकता
2. उचित भंडारण
3. उचित रख-रखाव
4. अनुवीक्षण करना

जागरूकता का अर्थ है कि जहाँ-जहाँ पांडुलिपियों का संग्रह है, चाहे वह कोई पुस्तकालय है, मठ है या फिर कोई निजी संग्रह, उन्हें अपने संग्रह के संदर्भ में हर प्रकार की जानकारी होनी चाहिए जैसे संग्रह किस प्रकार का है, उसकी प्रवृत्ति

क्या है, संग्रह में क्षरण तो नहीं हो रहा है और अगर हो रहा है तो कितना और उसका कारण क्या है और इस दिशा में क्या करना चाहिए?

उचित रख-रखाव और भंडारण संरक्षण के दो महत्त्वपूर्ण चरण हैं। देखा गया है कि किसी भी संग्रह में चाहे वह पांडुलिपियों का हो, दुर्लभ पुस्तकों का हो या अभिलेखों का, उनमें अत्यधिक नुकसान अनुचित रख-रखाव और भंडारण के कारण ही होता है। इसका एक बड़ा ही सामान्य सा उदाहरण है कि जब हम किसी पुस्तक को अलमारी आदि से बाहर खींचते हैं तो अधिकतर यह देखा गया है कि हम अपनी अंगुली से उस पुस्तक को उसकी सिलाईवाले स्थान की ओर से बाहर खींचते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप सिलाई क्षतिग्रस्त हो जाती है।

इसी तरह से भंडारण में ध्यान न देने के कारण भी पांडुलिपियों का क्षरण हो रहा है। भंडारण का स्थान सुनिश्चित करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वहाँ सूर्य की सीधी किरणें न पड़ें। वर्षा का जल, धूल और रासायनिक प्रदूषण से भी बचाव रहे। इसके साथ ही भंडारण ऐसा होना चाहिए, जो क्षरण के जैविक कारण, जैसे कि चूहों, कीड़ों और दीमक से सुरक्षित हो।

अनुवीक्षण करना भी सुरक्षात्मक संरक्षण का अति आवश्यक चरण है। इसमें समय-समय पर भंडारण क्षेत्र और पांडुलिपियों की स्थिति पर नज़र रखी जाती है, ताकि अगर किसी भी प्रकार के क्षरण के लक्षण नज़र आएँ तो तुरंत उन्हें समझ कर, उस दिशा में कार्रवाई की जाए। सुरक्षात्मक संरक्षण के इन सभी चरणों का पालन करके पांडुलिपियों में होनेवाले क्षरण को समय रहते साठ से सत्तर प्रतिशत तक रोका जा सकता है।

आजकल पांडुलिपियों के सुरक्षात्मक संरक्षण में नई पद्धति का चलन शुरू हुआ है, जिसे 'सुरक्षात्मक संरक्षण के पारंपरिक उपाय' कहा जाता है। इसके अंतर्गत हानिकारक रसायनों के स्थान पर हर्बल उत्पादों का इस्तेमाल किया जाता है, जो कि रसायनों जितने ही असरदार होने के बावजूद पांडुलिपियों और हमारे स्वास्थ्य के लिए ज़्यादा सुरक्षित होते हैं। इन देसी उत्पादों में लौंग, दालचीनी, काली मिर्च, सूखा अदरक, शरीफ़ा के बीज, नीम और तंबाकू के सूखे पत्ते, कपूर आदि का प्रयोग कीड़ों से बचाव के लिए किया जाता है। इसी तरह ताड़ पत्र की पांडुलिपियों में लेमन ग्रास तेल, सिट्रोनेला (गंजनी) और लौंग के तेल आदि का प्रयोग किया जाता है।

उपचारात्मक संरक्षण

उपचारात्मक संरक्षण उन पांडुलिपियों को दिया जाता है, जो क्षतिग्रस्त हो चुकी होती हैं। इस प्रकार के संरक्षण में की जाने वाली प्रक्रियाओं का आधार वैज्ञानिक होता है और इसकी विशेषता यह है कि ये सभी प्रक्रियाएँ परावर्त्य होती हैं अर्थात् अगर आज हम किसी पांडुलिपि को किसी विशेष प्रक्रिया द्वारा संरक्षित

करते हैं और भविष्य में उससे भी अच्छी कोई दूसरी विधि वैज्ञानिकों द्वारा खोज ली जाती है, तो हम पांडुलिपि को बिना नुकसान पहुँचाए, पहले वाली को हटा कर नई विधि का इस्तेमाल कर सकते हैं।

संरक्षण विज्ञान एक नीतिशास्त्र के अंतर्गत कार्य करता है, जिसके अनुसार

संरक्षण की सभी विधियाँ परावर्त्य होनी चाहिए।
संरक्षण के बाद वस्तु का मूल स्वरूप नहीं बदलना चाहिए।
संरक्षण के दौरान मूल स्थिति में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए।

उपचारात्मक संरक्षण

सुरक्षात्मक संरक्षण के विपरीत उपचारात्मक संरक्षण की प्रक्रियाएँ जटिल होने के कारण इन्हें प्रयोगशाला में ही किया जाता है और किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा ही किया जा सकता है, जिसे उपचारात्मक संरक्षण का प्रशिक्षण प्राप्त हो और साथ में इन प्रक्रियाओं को करने का अच्छा अनुभव भी हो।

पांडुलिपियों के उपचारात्मक संरक्षण में प्रयोग होने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं का क्रम इस प्रकार है

निरीक्षण

यह सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण चरण होता है। निरीक्षण से यह सुनिश्चित किया जाता है कि पांडुलिपियों के संग्रह में हो रहे क्षरण का कौन-सा कारक है और इसके संरक्षण में कौन सी विधि का उपयोग किया जा सकता है।

प्रलेखन

प्रलेखन दो प्रकार से किया जाता है   पहला ग्राफ़िक और दूसरा फ़ोटो ग्राफ़िक। प्रलेखन की प्रक्रिया उपचारात्मक संरक्षण के दौरान तीन चरणों में की जाती है   उपचार से पहले, उपचार के दौरान और उपचार के बाद।

धूम्रीकरण

धूम्रीकरण की प्रक्रिया संरक्षण प्रक्रिया शुरू करने से पहले की जाती है और इससे पांडुलिपियों में उपस्थित हर प्रकार के जैविक कारक जैसे कि फफूँदी और उसके जीवाणु, कीड़ों के डिंभक आदि, जिन्हें हम नंगी आँखों से नहीं देख सकते, उन्हें नष्ट करने में सहायता मिलती है। धूम्रीकरण की प्रक्रिया में विभिन्न रसायनों का प्रयोग किया जाता है, जैसे अमोनिया, थाईमोल, पैरा-डाई-क्लोरोबैंजीन, साइक्लो हेक्सायल एमीन इत्यादि।

ये सभी रसायन फफूँदी और डिंभक नाशक होते हैं। पांडुलिपियों को पंद्रह से बीस दिनों तक इन रसायनों के साथ धूम्रीकरण प्रकोष्ठ में रखा जाता है, जहाँ रसायनों के वाष्प पांडुलिपियों में समा कर अपना काम करते हैं।

परीक्षण

इस चरण में अलग-अलग प्रक्रियाओं द्वारा और अलग-अलग रसायनों व विशेष संरक्षण उपकरणों का प्रयोग कर, निम्नलिखित तीन चीज़ों का परीक्षण किया जाता है

1. स्याही और रंग द्रव्य का परीक्षण
2. अम्ल-क्षार परीक्षण
3. कागज़ का परीक्षण

इन परीक्षणों से प्राप्त जानकारी के आधार पर आगे की जानेवाली संरक्षण प्रक्रियाओं को सुनिश्चित किया जाता है।

क्लीनिंग (सफ़ाई-धुलाई)

पांडुलिपियों की क्लीनिंग दो तरह से की जाती है

ड्राइ क्लीनिंग : इस प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार की संरक्षण सामग्री और औज़ारों की सहायता ली जाती है, जैसे निडल, सरजिकल ब्लेड, मुलायम ब्रश, इरेज़र पाउडर, एसिड फ्री रबर, छोटा वैक्युअम क्लीनर इत्यादि।

वेट अथवा रासायनिक क्लीनिंग : ड्राइ क्लीनिंग के पश्चात् जो दाग़ और जमे हुए धब्बे पांडुलिपियों पर रह जाते हैं, जैसे तेल, घी, सिंदूर, दीये या धूप के धुएँ के दाग़, बाल-पेन, कीड़ों के निशान इन्हें विभिन्न प्रकार के रसायनों के इस्तेमाल से साफ़ किया जाता है।

विअम्लीकरण

पांडुलिपियों के संरक्षण में विअम्लीकरण सबसे महत्त्वपूर्ण चरण है। इस प्रक्रिया में कागज़ में क्षरण के कारण उत्पन्न हुए अम्ल क्षार को विअम्लीकरण की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा निष्प्रभावी किया जाता है, ताकि पांडुलिपियों का अधिक क्षरण न हो सके। विअम्लीकरण की प्रक्रिया दो प्रकार से की जाती है जलीय विअम्लीकरण और अजलीय विअम्लीकरण। अगर पांडुलिपि की स्याही पानी में घुलनशील हो तो उस स्थिति में अजलीय विअम्लीकरण की प्रक्रिया की जाती है और अगर स्याही पानी में नहीं घुलती है तो जलीय विअम्लीकरण द्वारा उसका संरक्षण किया जाता है।

जलीय विअम्लीकरण : इस प्रक्रिया में पांडुलिपि के पन्नों को पहले कैल्शियम हाइड्रो ऑक्साइड और कैल्शियम बाई कार्बोनेट के घोल में पाँच से दस मिनट तक डुबोया जाता है। जलीय विअम्लीकरण के दूसरे तरीके में पांडुलिपि के पन्नों को 0.2 प्रतिशत मैग्नीज़िअम बाई कार्बोनेट के घोल में डुबोया जाता है।

अजलीय विअम्लीकरण : इस प्रक्रिया में 1.8 प्रतिशत बेरियम हाइड्रो ऑक्साइड को मिथेनॉल या एसिटॉन में घोल कर इसे ब्रश की सहायता से क्षरित पांडुलिपि के पन्नों पर लगाया जाता है।

पहाड़ी पांडुलिपियों की चित्रण परम्परा

विजय शर्मा

भारत के पूर्वी भाग बंग प्रदेश एवं नेपाल में पाल शासकों के राज्यकाल (800-1200 ई.) में सचित्र पांडुलिपियों के प्रारंभिक उदाहरण बौद्ध महाविहारों से प्राप्त हुए हैं। पाल शासक बौद्ध धर्म की महायान शाखा के अनुयायी थे। इन शासकों ने कालान्तर में वज्रयान शाखा के अंतर्गत बुद्ध के बोधिसत्त्व और दैवीय रूपों की परिकल्पना की। बुद्ध के ये ध्यान-रूप धातु एवं प्रस्तर की प्रतिमाओं के अतिरिक्त भित्तिचित्रों एवं चित्रित पताकाओं (थंका) और सचित्र पांडुलिपियों में मुखर हुए हैं। वज्रयान शाखा में बुद्ध के अनेक रूपों का विशद् वर्णन समाहित था और प्रतिमा शास्त्र के अनुरूप इन देवी-देवताओं के विविध रूपों को चित्रित करने का निदर्शन था। इनके अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रंथों में बौद्ध धर्म की जातक कथाओं को चित्रित करवाने की परम्परा भी पाल शासकों के राज्यकाल में रही। इन चित्रित पोथियों में बुद्ध के ध्यान एवं रूपों के साथ-साथ कुटिल लिपि में सुरुचिपूर्ण हस्तलेख लिखने की भी परम्परा थी। संभवतः इन भव्य ग्रंथों के चित्रित पन्नों को पढ़ने की अपेक्षा पूजन के उपयोग में लाया जाता रहा होगा।

पालकालीन अधिकांश पांडुलिपियाँ ताड़पत्र पर चित्रित की गई है। ये ताड़पत्र आयताकार होते थे, जिनकी चौड़ाई लगभग तीन इंच होती थी। इसी कारण इन पर बने चित्रों का आकार छोटा होता था। सुरक्षा की दृष्टि इन चित्रित पन्नों के मध्य छिद्र करके इन्हें धागे की एक डोरी से बाँध कर काष्ठ के चित्रित आवरणों के मध्य रखा जाता था। ताड़पत्र की इन सचित्र पांडुलिपियों में बौद्ध ग्रंथ 'अष्टसहस्र प्रज्ञापारमिता' अत्यंत लोकप्रिय हुआ। इस ग्रंथ में बुद्धचरित पर आधारित घटनाओं को दृष्टांत-चित्रों के रूप में शास्त्रीय शैली में चित्रित किया गया है। दुभार्ग्य से इन ग्रंथों में अभी तक किसी चित्रकार के नाम का उल्लेख नहीं आया है। फिर भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन सचित्र पांडुलिपियों को बनवाने में कौन लोग इच्छुक

थे। कुछ चित्रित पोथियों पर पोथी निर्माता के रूप में दानपुष्पिका उल्लिखित है। अधिकांश पोथियाँ बौद्ध भिक्षुओं के मार्गदर्शन में तैयार की जाती थीं। इन बौद्ध भिक्षुओं को स्थविर, उपासक या भिक्खु कहा जाता था। कुछ ग्रंथों में पोथी निर्माता के रूप में बौद्ध मतावलम्बी नृपतियों, स्थानीय सामंतों, ज़मींदारों और उच्चाधिकारियों के नाम लिखे गए हैं। इन उदार संरक्षणदाताओं द्वारा पोथी निर्माण में आर्थिक सहयोग देने का प्रयोजन न केवल अपने लिए बल्कि अपने पूर्वजों के लिए भी पुण्य लाभ अर्जित करना था। अतः धनपतियों द्वारा ग्रंथों के चित्रण की एक दीर्घकालीन परम्परा रही है।

पोथी लेखकों द्वारा बार-बार इस बात पर बल दिया गया है कि इन ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने पर अपार पुण्य लाभ होता है। बौद्ध भिक्षुओं के भ्रमणशील होने के कारण ये सचित्र पांडुलिपियाँ नेपाल, तिब्बत और बर्मा आदि देशों में जाती रहीं। इस प्रकार सचित्र ग्रंथों और उनकी शैली के व्यापक प्रसार केन्द्र नालंदा, ओदंतपुरी, विक्रमशिला और सोमरूप आदि बौद्ध महाविहार बौद्ध ज्ञान एवं कला के केन्द्र बनकर उभरे। इन सभी महाविहारों में बड़ी संख्या में बौद्ध धर्म से सम्बंधित ग्रंथों एवं चित्रों का निर्माण हुआ। पालवंशीय शासकों के संरक्षण में, जो बौद्ध पांडुलिपियाँ बनीं, उनपर रचित चित्रों को कला इतिहास में पालशैली के नाम से जाना जाता है। अजंता की बौद्ध गुफाओं में बने भित्तिचित्रों से पालशैली की तुलना की जाती है। पाल युग में बनी प्रस्तर एवं धातु की मूर्तियों की शिल्प शैली भी पाल चित्रों के अनुरूप है। सुघड़ रेखाओं एवं प्राथमिक रंगों की वर्णिका इन चित्रित ग्रंथों के पन्नों में देखते ही बनती है।

भारत में 13वीं शती के पूर्वार्द्ध में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने जब बौद्ध विहारों का विध्वंस शुरू किया तो कुछ बौद्ध भिक्षु सुरक्षा की दृष्टि से इन पांडुलिपियों को लेकर नेपाल आदि स्थानों में गए। इसी कारण इस कला-परम्परा का प्रचार-प्रसार नेपाल में हुआ। ओडिशा, आंध्रप्रदेश व दक्षिण भारत के समुद्र तटीय क्षेत्रों में ताड़पत्र पर ग्रंथों को लिखने की परम्परा रही है।

बारहवीं शताब्दी में कागज़ का आविष्कार होने के बाद कागज़ पर ग्रंथ लेखन की शुरुआत हुई। 14वीं शती तक हस्तनिर्मित कागज़ पर ग्रंथ लेखन की परम्परा स्थापित हो चुकी थी। भारत के पश्चिमी राज्यों गुजरात, राजस्थान और मालवा क्षेत्र में बड़े पैमाने पर पांडुलिपियाँ बनाई जाने लगीं। इन क्षेत्रों में जैन धर्म का प्रचलन होने के कारण अधिकांश ग्रंथ जैन धर्म विषयक लिखे गए। चालुक्य वंश के राजा जैन धर्म के संरक्षक थे। इन शासकों के संरक्षण में बड़े पैमाने पर हस्तनिर्मित कागज़ पर चित्रित ग्रंथों का निर्माण हुआ। जैन शासकों के अतिरिक्त उनके उत्तराधिकारी, मंत्री और धनिकों द्वारा भी धर्मलाभार्थ इन जैन ग्रंथों का आलेखन करवाया गया। पश्चिमी भारत के जैन भंडारों और पुस्तकालयों में भारी मात्रा में

प्राचीन पांडुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं। अधिकांश चित्रों में अंकित आकृतियों को डेढ़ चश्मी चेहरे में दिखाया गया है। अधिकांश मुखाकृतियों की एक आँख चेहरे से काफी बाहर निकली रहती है। आँखों का आकार भी लम्बे पत्ते की भांति नुकीला होता है। विशेषकर नारी आकृतियों के अंगों यथा वक्ष और कटिप्रदेश को विशेष उभारों के साथ चित्रित किया है। प्रवहमान रेखाओं एवं सीमित रंगों की वर्णिका इस शैली के चित्रों की विशिष्ट पहचान है। कल्पसूत्र एवं कालकाचार्य के दो विषय इन चित्रित जैन ग्रंथों के प्रमुख विषय रहे हैं, जिनकी कई-कई प्रतिकृतियाँ बनती रहीं।

जैनियों में प्राचीन काल से ही पांडुलिपियों को 'ज्ञान पूजा' या 'शास्त्र पूजा' के रूप में स्थापित किया जाता रहा। इसीलिए जैन मंदिरों को ज्ञान भंडार या शास्त्र भंडार कहा जाता था। इन भंडारों के प्रमुख भिक्षु भट्टारक कहलाते थे। इस प्रकार जैन ग्रंथ आलेखन का आंदोलन लगभग 16वीं शताब्दी तक अनवरत चलता रहा। इस काल में पंचतंत्र, प्रबोध चंद्रोदय, रतिरहस्य, हरि कथा, दुर्गा सप्तशती, कल्पसूत्र, कालकाचार्य कथा आदि पुराण, महापुराण, यशोधरा चरित और जैन तीर्थंकरों के जीवनवृत्त के कथानकों पर बने दृष्टांत चित्र जैन ग्रंथों में मिलते हैं।

हस्तनिर्मित कागज़ पर बने इन जैन ग्रंथों को लकड़ी की चित्रित पटली के मध्य सुरक्षित रखकर कपड़े की पोटली में बाँध देते थे। कागज़ पर उकेरे चित्रों को सुगम व स्वच्छंद रेखाओं से संयोजित किया जाता था। चित्रों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए लाल, नीले, गुलाबी, सुनहरे व रूपहले रंगों का प्रयोग आकृतियों के आलेखन में हुआ है। कई चित्रों में मुख्य आकृतियों को सोने के वर्क से बनाया गया है और काली महीन रेखाओं से उनकी खुलाई की जाती थी। अंत में सीमा-रेखा के चित्रण से आकृतियों को स्पष्ट किया जाता था। चटख रंगों का प्रयोग करने के प्रति कलाकारों का विशेष झुकाव था। चित्रों के हाशियों को प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से चितेरों ने उन पर मानव व पशु-पक्षियों की आकृतियों का संयोजन किया है। इस विशिष्ट चित्रकला का प्रभाव दिल्ली, ग्वालियर, माण्डू और जौनपुर तक फैला दिखाई देता है। इन सचित्र पोथियों पर चित्रकार के नाम का उल्लेख कभी नहीं हुआ। इन पोथियों के चित्रांकन में जितना परिश्रम हुआ है, उतने ही दम-खम से इनमें सुलेखन हुआ है। सोने की सयाही से लिखे अक्षर प्रभावोत्पादक दीखते हैं। इस काल में जैन धर्म की हज़ारों पांडुलिपियाँ लिखी गईं, जबकि ग़ैर जैन धर्म विषयक ग्रंथों की संख्या बहुत कम है।

मुगलों के अभ्युदय और उनकी मूर्ति भंजक प्रवृत्ति होने के कारण जैन धर्म के धनाढ्य व्यापारियों ने पांडुलिपि चित्रण करवाने को अधिमान दिया और धार्मिक श्रद्धा के चलते उन्होंने असंख्य पोथियों को तैयार करवाकर जैन भंडारों में सुरक्षित रखवाया। पश्चिमी भारत के गुजरात व राजस्थान में पांडुलिपियों के चित्रण की जो सुदीर्घ परम्परा रही, उसका प्रभाव सुलतान व तुगलक वंश के मुस्लिम शासकों

की छत्रछाया में चल रही चित्रशालाओं पर भी पड़ा। कवि दाऊद की प्रसिद्ध रचना 'चंदायन' अथवा 'लौर-चंदा' सुलतान युग की श्रेष्ठ चित्रित पांडुलिपियाँ हैं। इस ग्रंथ में लौरिक और उसकी प्रेयसी चंदा के प्रणय की मार्मिक कथा चित्रित हुई है। माण्डू के सुलतानों के संरक्षण में भी पांडुलिपि चित्रित होने के प्रमाण मिले हैं। पाकशास्त्र पर लिखित पोथी 'नेमतनामा' भी इस काल का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त रागमाला, चौर-पंचाशिका और मृगावत आदि ग्रंथ भी इसी काल की रचनाएँ हैं।

पहाड़ी चित्रांकन की पांडुलिपियाँ

मध्य 16वीं शती में भारत में मुगल चित्रकला का प्रारंभ हुआ। ईरानी चित्रकारों और भारतीय कलावंतों के आपसी समन्वय से एक नवीन शैली ईजाद हुई, जिसमें ईरानी चित्रांकन प्रविधि के होते हुए भी उसकी आत्मा विशुद्ध भारतीय थी। इस प्रारंभिक मुगल चित्रकला में फारसी कला की छाप के साथ ही पश्चिमी और मध्य भारतीय, गुजराती, कश्मीरी, नेपाली यहाँ तक कि यूरोपीय कला के तत्त्वों का भी समावेश था। यह सम्राट अकबर की कलाप्रियता के कारण संभव हो पाया। पांडुलिपि आलेखन और संग्रहण का शौक उसे अपने पिता हुमायूँ से विरासत में मिला था। अकबर की माता हमीदाबानों का अपना पृथक् कुतुबखाना (पुस्तकालय) था। प्राचीन साहित्य और कथानकों पर अकबरयुगीन सचित्र पांडुलिपियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है

1. गैर भारतीय साहित्यिक रचनाओं के चित्र और
2. भारतीय साहित्य एवं कथानकों के चित्र।

भारतीय चित्रकला में विषयवस्तु और तकनीक की नई प्रवृत्तियों का आगमन इस काल में हुआ। विशेषकर यह समय भारतीय चित्रकला के इतिहास में सांस्कृतिक संक्रमण का समय था, जब चित्रकला में यथार्थपरक चित्रांकन की शुरूआत हुई। शाही चित्रशाला में बड़े पैमाने पर चित्रित ग्रंथों का आलेखन होने लगा। रामायण, हरिवंश पुराण और रज़्मनामा (महाभारत) नलो दमन के अतिरिक्त गैर भारतीय साहित्य जैसे हम्ज़ानामा, दीवान-ए-हाफिज़, तूतीनामा-अनवारे सुहेली और खम्सा-ए-निजामी आदि पर भी सचित्र पुस्तकें तैयार की गईं। अकबर के आदेश पर हिन्दू धार्मिक ग्रंथों का फारसी में अनुवाद हुआ, क्योंकि वह स्वयं भी इन ग्रंथों को समझने के लिए उत्सुक था। इन सचित्र पांडुलिपियों की सम्पूर्ण प्रतियाँ और कुछ ग्रंथों की खंडित प्रतियों के चित्रित पन्ने अब देश-विदेश के विभिन्न संग्रहालयों में संगृहीत हैं।

अकबर जैसे कलाप्रिय सम्राट और उसके उत्तराधिकारियों की छत्र-छाया में मुगल चित्रकला विकसित होकर कला के सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँची थी। शाहजहाँ के राज्यकाल में चित्रित ग्रंथ पादशाहनामा मुगल चित्रकला की भव्यता का प्रमाण

है। उसके बाद औरंगज़ेब के सम्राट बनने पर मुगल चित्रकला परम्परा को आघात पहुँचा और इसका ह्रास प्रारंभ हो गया।

17वीं शताब्दी के प्रारंभ में मुगल सम्राट औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् सल्तनत के लिए रक्तरंजित संघर्ष का दौर चला। मुगल शाहजादों के परस्पर द्वंद्व के चलते शाही चित्रशाला के चित्रकारों को दुर्दिन देखने पड़े। मुगल शासकों की उदासीनता के कारण उन्हें मुगल दरबार छोड़कर राजपूत शासकों के संरक्षण में चित्रांकन करने को विवश होना पड़ा, क्योंकि मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् राजपूत शासक मुगलों के चंगुल से पूर्णतया मुक्त हो चुके थे। उन्होंने अब मुगलों को कर देना भी बंद कर दिया था, इस कारण आर्थिक रूप से भी वे बहुत समृद्ध हो गए थे।

पहाड़ी शासक भी मुगलों के करदाता थे। मनसबदार होने के कारण वे प्रायः मुगल दरबार में आया-जाया करते थे। शूरवीर और कुशल योद्धा होने के कारण नूरपुर और गुलेर के राजा युद्ध अभियानों में मुगल सेना का संचालन कुशलतापूर्वक करते रहे। मुगलों के सान्निध्य में रहने के कारण वे मुगल दरबार की संस्कृति और शाही परम्पराओं से भली-भांति परिचित थे। मुगल संस्कृति का अनुकरण केवल वेशभूषा और परिधान तक ही सीमित नहीं था, बल्कि वे दरबार की रंगीनियों, शाही शौक एवं परम्पराओं का भी निर्वाह करते थे। हिमालय की तराई में अवस्थित पहाड़ी रियासतों के कलाप्रिय शासकों ने मुगल दरबार की परम्पराओं से कुछ हद तक प्रतिस्पर्धा करते हुए चित्रकारों को राजकीय संरक्षण दिया। फलतः सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य इस राजाश्रित कला में अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई। पहाड़ी रजवाड़ों के प्रश्रय में पनपी और विकसित हुई वह चित्रकला आज विश्व-भर में पहाड़ी चित्रकला के नाम से प्रसिद्ध है।

मुगल चित्रकला की भांति पहाड़ी राज्यों में जब चित्रांकन का दौर चला तो स्थानीय पर्वतीय राजाओं ने उदार हृदय से कलाकारों को संरक्षण दिया। चित्रकारों ने न केवल धार्मिक ग्रंथों के आख्यानों पर आधारित विषयवस्तु को चित्रित किया, बल्कि रीतिकालीन काव्य को भी अपने अंकन-आलेखन का आधार बनाया। पहाड़ी लघुचित्रों की भांति चित्रित पोथियों को भी उसी दम-खम से चित्रित किया।

पहाड़ी शैली के अन्तर्गत सर्वाधिक प्राचीन चित्रित पोथी हमें कांगड़ा के जयसिंहपुर नामक गाँव से प्राप्त हुई है। इस पांडुलिपि के चित्र कांगड़ा घाटी की चित्रकला के प्रारम्भिक उदाहरण हैं। देवी माहात्म्य नामक इस ग्रंथ के अधिकांश चित्र देवी और असुरों के मध्य युद्ध को दर्शाते हैं। वर्ष 1995 में हिमाचल राज्य संग्रहालय, शिमला के तत्कालीन संग्रहालयाध्यक्ष डॉ. विश्वचन्द्र ओहरी तथा उनके सहयोगी अधिकारी श्री अजीत सिंह ने इस ग्रंथ की महत्ता को समझते हुए, इसे राज्य संग्रहालय के लिए प्राप्त किया था। इस सचित्र ग्रंथ की पुष्पिका के अनुसार इसे

वर्ष 1575 ई. में कांगड़ा के जयसिंहपुर नामक नगर में लिखा गया था।

चित्रण शैली की दृष्टि से इस देवी माहात्म्य ग्रंथ की तुलना एक अन्य सचित्र ग्रंथ चौर-पंचाशिका से की जा सकती है। चौर-पंचाशिका ग्रंथ उत्तरभारत में सोलहवीं शताब्दी में प्रचलित चित्रशैली में आलेखित है।

शिमला संग्रहालय का देवी माहात्म्य ग्रंथ हिन्दू परम्परा के अनुसार खुले पन्नों का है और प्रत्येक पन्ने के दोनों ओर देवनागरी लिपि में दुर्गा सप्तशती के श्लोक लिखे हैं। प्रत्येक पन्ने पर देवी और असुरों के संग्राम के सुन्दर चित्रों का अंकन हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तरभारत के मैदानी क्षेत्र का कोई चित्रकार घूमता-फिरता कांगड़ा क्षेत्र में आया होगा और यहीं बस गया होगा। शिमला संग्रहालय के देवी माहात्म्य ग्रंथ के चित्रों में राजपूत चित्रशैली की प्राचीन परम्परा का बोध होता है। इन चित्रों में आकृति अंकन और वनस्पति व भवनों की सज्जा तथा वर्ण योजना में मध्यकालीन भारतीय चित्रकला की साफ झलक मिलती है। विशेषकर नारी आकृतियों के विशाल और प्रभावोत्पादक दीर्घ नेत्र, उनके परिधान के सूक्ष्म ब्यौरे और आभूषणों में 'चौर-पंचाशिका' पांडुलिपि के चित्रों जैसी समानताएँ हैं। लम्बी वेणी और आभूषणों के लटकते हुए बुंदे इन चित्रों की विशेष पहचान है।

कांगड़ा से प्राप्त एक अन्य सचित्र ग्रंथ अपने चित्रों के कारण चर्चित रहा है। फारसी के लेखक फिरदौसी की कालजयी रचना 'शाहनामा' पर आधारित यह ग्रंथ मिर्ज़ा रूस्तम नामक एक मुगल अधिकारी की फरमाईश पर किसी कश्मीरी चित्रकार ने तैयार किया था। शाहनामा की यह सचित्र प्रति अब डबलिन स्थित चेस्टर बेट्टी पुस्तकालय में है। इस ग्रंथ के कुल 299 पृष्ठ हैं, जिनमें कश्मीरी चित्र शैली में अंकित 41 चित्र बने हैं, जिन पर पर्शियन कलम का गहरा प्रभाव है। सन् 1695 ई. में अंकित इस ग्रंथ पर फारसी में निम्नलिखित लेख लिखित है

'बी तारीख 11 शहर-ए-मुहर्रम अवल हराम सन् 36 जलूसबला मुताबिक-ए-सन् 1107 दर बलद काँगड़ा बी मौज़िब-ए-फरमाईश-ए-मिर्ज़ा रूस्तम।' अर्थात् पवित्र मास मुहर्रम के 11 वें दिन और राज्यकाल के 36 वें वर्ष तदनुसार 1107 हिज़री वर्ष में नगरकोट में मिर्ज़ा रूस्तम की फ़रमाईश पर चित्रित किया।

शाहनामा चित्रों में कांगड़ा की स्थानीय शैली अथवा देवी माहात्म्य ग्रंथ की शैली का कोई प्रभाव नहीं दिखाई देता। ऐसा प्रतीत होता है कि कश्मीर में कार्यरत कोई चितेरा मुगल अधिकारी मिर्ज़ा रूस्तम का आश्रित कलाकार था, जिसने कश्मीर में प्रचलित चित्र शैली में इस ग्रंथ का चित्रण किया।

एकरंगी पृष्ठभूमि और आकाश में क्षितिज पर एक सफेद पट्टी से आसमान को विभाजित करने की परम्परा उत्तर अकबरकालीन चित्रण रीति का स्मरण कराती है। यद्यपि वनस्पति चित्रण में प्रारंभिक पहाड़ी चित्रकला से मिलते-जुलते मोटिफ

इसमें दृष्टिगोचर होते हैं।

ग्रंथ चित्रण की परम्परा पहाड़ी क्षेत्र के लगभग अधिकांश राज्यों में रही। उत्तम कवि द्वारा गुलेर राज्य का इतिहास 'दिलीपरंजनी' और दत्त कवि द्वारा जम्मू के राजा बृजराज देव के लिए लिखी कविता 'ब्रजराज पंचाशिका' यद्यपि चित्रित ग्रंथ नहीं हैं तथापि पहाड़ी राज्यों के इतिहास की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है। मंडी क्षेत्र से प्राप्त एक चित्रित ग्रंथ 'मधुमालती' अपने चित्रों के कारण प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ मंडी के स्व. चन्द्रमणि कश्यप के संग्रह में था। इस सचित्र पोथी में मंडी शैली के चित्रों के अतिरिक्त टांकरी लिपि में मंझन कृत मधुमालती काव्य लिखित हैं। मंडी शैली में चित्रित एक अन्य ग्रंथ भी स्व. कश्यप के संग्रह में था। यह ग्रंथ केशवदास कवि की रामचंद्रिका पर आधारित है। इसमें देवनागरी लिपि में काव्य को सुरुचिपूर्ण ढंग से लिखा गया है। चित्रों की शैली के आधार पर उक्त पांडुलिपि का आलेखन काल लगभग 1775 ई. है।

राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के संग्रह में बिहारी सतसई पर आधारित चित्रित ग्रंथ विशेष महत्त्व का है। इसमें देवनागरी में लिखित दोहों के साथ-साथ कांगड़ा शैली के चित्र हैं। बिहारी सतसई का काव्य अपने लालित्य के कारण भारत में प्रसिद्ध रहा है। गुलेर शैली की चित्र शृंखला सतसई का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। सतसई का ही एक अन्य ग्रंथ चम्बा के भूरिसिंह संग्रहालय में है, जिसके प्रारंभ में मंगलाचरण के साथ राधा और कृष्ण की आकृतियाँ चित्रित हैं।

चम्बा के राजा उमंद सिंह वीर योद्धा के साथ-साथ देवी के अनन्य भक्त भी थे। उन्होंने चम्बा के महल में सहस्र चण्डी यज्ञ का आयोजन करवाया था, इस कारण महल का नाम ही अखण्ड चण्डी पड़ गया। राजा उमेद सिंह (1748-1763 ई.) ने वर्ष 1754 में देवी कोठी गाँव में चामुण्डा देवी के मंदिर का निर्माण करवाया था। पर्वतीय शैली में बने इस मंदिर में काष्ठ शिल्प के अतिरिक्त भव्य भित्ति चित्रों के दर्शनीय उदाहरण हैं। राजा उमेद सिंह के राज्यकाल में चम्बा में कार्यरत लहरू तथा महेश नामक दो चित्रकार प्रसिद्ध हुए। इन चित्रकारों ने भागवत पुराण और दशावतार पर चित्र-शृंखलाएँ तैयार की थीं। लहरू नामक तरखान चित्रकार ने राजा उमेद सिंह के पाठार्थ 'चण्डी पाठ' (दुर्गा सप्तशती) ग्रंथ को चित्रित किया था। इस चित्रित ग्रंथ के कुछ पन्ने चम्बा के भूरिसिंह संग्रहालय और राज्य संग्रहालय, शिमला में सुरक्षित हैं।

भूरिसिंह संग्रहालय, चम्बा में एक अन्य चित्रित ग्रंथ 'स्वप्न दर्पण' है। इस पुस्तक में स्वप्न में दिखाई देनेवाले शकुन और अपशकुनों का विस्तार से वर्णन और उनके फलादेश हैं। पन्ने के एक ओर चित्र और पीछे उनकी व्याख्या है। स्वप्न दर्पण ग्रंथ की कई प्रतियाँ बनाई जाती रहीं, जिनमें सबसे प्राचीनतम प्रति बसोहली शैली की है। लगभग 1700 ई. में चित्रित इस स्वप्न दर्पण ग्रंथ के अधिकांश पन्ने अब

अमेरिका के बोस्टन संग्रहालय में हैं।

पहाड़ी चित्रकला के अन्तर्गत सचित्र ग्रंथों में अश्व चिकित्सा के कई ग्रंथ तैयार किए जाते रहे हैं। इन ग्रंथों में घोड़े की बीमारियाँ और उन बीमारियों का निदान बतलाया गया है। एक ओर घोड़े की आकृति और उसके रोग के लक्षण को चित्र के रूप में दर्शाया गया है और दूसरी ओर उस रोग के निदान की विधि लिखित है। अश्व शास्त्र अथवा सैंधव शास्त्र नामक इस सचित्र पोथी की एक प्रति अब चम्बा के भूरिसिंह संग्रहालय में है।

हाल ही में कला जगत् में पहाड़ी रागमाला की एक पोथी चर्चित रही है, जिसके चित्रित पन्नों को ग्रंथ से निकाल कर कला संग्रह कर्त्ता विदेशों में उनकी खरीद-फरोख़्त कर रहे हैं।

रागमाला विषयक यह पोथी संभवतः पहली बार प्रकाश में आई है। इसमें लिखी इबारत के अनुसार यह ग्रंथ कांगड़ा राजघराने के संग्रह में था।

पहाड़ी शैली में विष्णु के दशावतार, चण्डी पाठ, स्तोत्रमाला, गजेन्द्रमोक्ष, भगवद्‌गीता, रामायण, महाभारत, तन्त्र, ज्योतिष, कामशास्त्र आदि विषयों पर अनेक चित्रित पांडुलिपियाँ बनाई जाती रहीं। ये ग्रंथ विभिन्न सरकारी, गैर-सरकारी निजी संग्रहों में हैं। प्रायः इन सचित्र पोथियों के चित्रों को ग्रंथकार स्वयं तैयार करते थे। लेखक दल के रूप में एक राज्य से दूसरे राज्य में भ्रमण करते हुए अपने ग्राहकों की फरमायश के अनुसार ग्रंथ लेखन का कार्य करते थे। एक ग्रंथ की कई-कई अनुकृतियाँ तैयार करने में ये निपुण थे। राजा, मंत्री और धनिकों के लिए कुशल चितेरे स्वयं चित्र आलेखन करते थे। अधिकांश चित्रित ग्रंथों में चित्रकार का नाम नहीं है। किन्तु लेखक अथवा खुशखतनवीस का नाम ग्रंथ के अंत में पुष्पिका के रूप में देखने को मिलता है। कई बार क्षतिग्रस्त पांडुलिपियों की अनुकृति तैयार करते समय नष्ट हो चुके अक्षरों को लेखक अदांज से ही लिख देता था, जिससे पुस्तक में कई पाठान्तर भेद भी देखने को मिलते हैं। पांडुलिपि की अनुकृति तैयार करने के पश्चात् ग्रंथकार अपना नाम व तिथि लिखने के साथ-साथ निम्नलिखित घोषणा भी करता था

यादृशं पुस्तकं दृष्टम् तादृशं लिखितं मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मा दोषो न दीयताम्।

अर्थात् जैसी पुस्तक देखी, मैंने वैसा ही लिख दिया। यदि इसमें कोई अशुद्धि हो तो मुझे दोष न दें।

हिमाचल के हस्तलिखित ग्रन्थों में चित्रांकन

डॉ. रामस्वरूप पल्लव

भारत में प्राचीन काल से ताड़पत्र या भोजपत्र पर चित्रांकन की एक विशेष परम्परा रही है। लगभग 12वीं शताब्दी में हस्तनिर्मित कागज़ के आविष्कार से ग्रन्थ के लेखन-चित्रण में क्रान्ति हुई। ग्रन्थों के हस्तलिपि में अनेक संस्करण बना कर उन्हें चित्रों द्वारा सुसज्जित करने की परम्परा मध्यकाल में विकसित हुई। ग्रन्थों में कथानक पर आधारित चित्र अंकित किये जाते थे। ये चित्र लघुचित्रों की अपेक्षा कम स्तर के होते हुए भी अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने में अत्यंत सफल रहे हैं। पहाड़ी जनमानस के गौरवपूर्ण इतिहास, धार्मिक मनोवृत्ति और भक्ति की प्रेरणा से ही ग्रन्थों का चित्रण हुआ। इन सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थों में बसोहली, गुलेर, कांगड़ा, कुल्लू, मंडी, नूरपूर, गढ़वाल आदि श ैलियों की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है।

पहाड़ी चित्रकला का मूलाधार पहाड़ी प्रदेश में प्रचलित धार्मिक, शृंगारिक एवं प्रेम की लोक गाथाएँ रही हैं। जम्मू से गढ़वाल तक हिमालयी प्रदेश में यह विधा उन्नीसवीं सदी के अन्त तक रही, जो सचित्र ग्रन्थों की परम्परा एवं विकास में महत्त्वपूर्ण शृंखला है। पहाड़ी क्षेत्र में सचित्र ग्रन्थों की परम्परा तो रही है, लेकिन इसका मुख्य कारण था कि कला-पोषकों की रुचि लघु चित्र-शृंखला और भित्ति-सज्जा में अधिक रही। इसके विपरीत राजस्थानी मुगल-शैली में अनेक सचित्र ग्रन्थों का चित्रण हुआ। वहाँ के अनेक संग्रहालयों में सचित्र ग्रन्थों के अमूल्य भंडार है।

पहाड़ी हस्तलिखित ग्रन्थों की रचना के लिए सर्वोत्तम स्यालकोटी कागज़ का ही प्रयोग किया गया है। लेखन एवं चित्रण कार्य एक ही पृष्ठ पर किया जाता था। कागज पर जहाँ-जहाँ चित्रण कार्य की आवश्यकता समझी जाती थी, वहाँ उपयुक्त स्थान छोड़ दिया जाता था। प्रत्येक हस्तलिखित ग्रन्थ को चित्रित करने में अनेक लोगों का सहयोग रहता था। सर्वप्रथम विद्वान, जो उस ग्रन्थ की विषयवस्तु की रूपरेखा बनाकर मार्ग दर्शन करता था। दूसरा लिपिकार, जो शब्दों को कागज़

पर लिपिबद्ध करता था। फिर मुख्य कार्य चित्रकार का रहता था, जो निर्दिष्ट स्थान पर ग्रन्थ से सम्बन्धित चित्रांकन करता। पहाड़ी सचित्र ग्रन्थों में चित्रांकन के अनेक प्रयोग देखे जा सकते हैं

1. ग्रन्थ के मध्य यत्र-तत्र चित्रण।
2. ग्रन्थ के एक ओर लेखन एवं उसके साथ चित्रण।
3. ग्रन्थ के ऊपरी भाग पर लेखन और नीचे चित्रांकन।
4. ग्रन्थ के दायें-बायें चित्रण तथा मध्य में लेखन।
5. अध्याय के अन्त में चित्रांकन।
6. ग्रन्थ के पृष्ठ के दोनों ओर चित्रांकन।

ये सचित्र ग्रन्थ बसोहली, गुलेर, कांगड़ा, कुल्लू, मंडी, नूरपूर, गढ़वाल आदि पहाड़ी कला की विभिन्न शैलियों में उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ विशिष्ट ग्रन्थों का शैलीगत वर्णन इस प्रकार है

कुल्लू शैली में सचित्र ग्रन्थों को तैयार करवाने में राजा प्रीतम सिंह (1767-1806) और चित्रकार भगवान एवं उनकी शैली का विशेष योगदान है। इस शैली में तीन सचित्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं 1. सुन्दर शृंगार, 2. मधु-मालती, 3. भागवत पुराण।

सुन्दर शृंगार

कुल्लू शैली में उपलब्ध यह सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थ अपनी प्राचीनता एवं टांकरी भाषा के कारण प्रसिद्ध है। चण्डीगढ़ संग्रहालय में सुरक्षित इस ग्रन्थ का आकार 20X15 सै. मी. है। स्यालकोटी कागज़ के इस क्षैतिजाकार ग्रन्थ में 80 पृष्ठ और 64 शृंगारिक चित्र हैं। इस ग्रन्थ के मूल लेखक सुन्दर दास हैं, जो शाहजहाँ के दरबारी कवि थे और मुगल दरबार में 'कविराय' की पदवी से सुशोभित रहे।

कुल्लू शैली में चित्रित यह ग्रन्थ सबसे प्राचीन है, जो संवत् 1855 (1788) में चित्रित हुआ। इसी शैली से सम्बन्धित अन्य दो ग्रन्थ *भागवत* और *मधु-मालती* क्रमशः 1794 और 1799 में चित्रित हुए। सुन्दर शृंगार की स्थानीय शैलीगत विशेषता अन्य परवर्ती ग्रन्थों में दिखाई पड़ती है। इस ग्रन्थ में चित्रकार का नामोल्लेख नहीं, फिर भी चित्रकार भगवान की शैलीगत विशेषताओं के साथ तत्कालीन कुल्लू लघुचित्रों से मिलती-जुलती मानवाकृतियाँ हैं।

मधु-मालती

कुल्लू शैली में चित्रित हस्तलिखित *मधु-मालती* ग्रन्थ प्रेमाख्यान पर आधारित है। चतुर्भुज दास कृत इस ग्रन्थ की कथा में नायक का नाम मधु तथा नायिका का नाम मालती मिलता है। राजा चन्द्रसेन की पुत्री मालती सुंदर रूपवती थी। उसी राज्य का मंत्री-पुत्र मधु भी अत्यन्त रूपवान था । एक दिन मालती ने मधु के रूप-सौन्दर्य से मोहित होकर उसके समक्ष प्रणय निवेदन किया। मधु ने सामाजिक तथा जातीय

भेद का स्मरण दिलाकर मालती को समझाया भी, लेकिन मालती ने प्रेम के वशीभूत पुनः मधु से आग्रह किया। प्रेम-पथ से हटाने के लिए मधु ने अनेक उपाय किये, लेकिन मालती ने पीछा न छोड़ा और अंततः वह मधु का प्रेम प्राप्त करने में सफल हो गया। दोनों ने राम सरोवर के तट पर गन्धर्व विवाह कर लिया। इस प्रेम विवाह से राजा अप्रसन्न हुआ। कालांतर में मधु और मालती के पूर्व जन्म में कामदेव और रति होने की बात जानकर राजा ने पश्चात्ताप किया।

मधु-मालती की यह लोककथा इतनी लोकप्रिय रही है कि कुल्लू शैली में तीन शृंखलाएँ इस विषय पर आधारित हैं, जो क्रमशः जगदीश मित्तल हैदराबाद, लतीफी संग्रह और वोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

भागवत पुराण

राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में संग्रहित *भागवत पुराण* विषय पर एक सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थ है। संवत् 1851 (1794) में रघुनाथपुर नामक स्थान पर राजा प्रीतम सिंह के लिए कुल्लू के कलाकार भगवान द्वारा इसे चित्रित किया गया। इस ग्रन्थ में चित्रित नारी आकृतियों की प्रेरणा स्थानीय नारी आकृति से ली गई प्रतीत होती है। लम्बी देह यष्टि वाली इनकी मुखाकृतियों पर एक-सा भाव चित्रित है। इनकी चोलियाँ अंग्रेज़ी के वी (V) आकार के गले वाली हैं। वस्त्रों पर बंदकीदार अलंकरण है। ओढ़नी को उल्टे पल्ले की साड़ी की भान्ति पहनाया है। हरे, पीले और लाल चटख रंगों का प्रयोग हुआ है। इस चित्रांकन में चित्रकार भगवान की निजी शैली दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं कम आकृतियाँ और वृक्षों की अधिकता है। पतले एवं लचीले वृक्षों का अंकन पृष्ठभूमि की शोभा बढ़ाने के लिए ही किया गया है।

रामचन्द्रिका

मंडी शैली में चित्रित इस हस्तलिखित ग्रन्थ की एक मात्र प्रति मंडी नगर में श्री चन्द्रमणि कश्यप द्वारा स्थापित एवं संचालित 'हिमाचल लोक संस्कृति संस्थान' के संग्रह में है, जो आचार्य केशव दास के मूलग्रन्थ *रामचन्द्रिका* की हस्तलिखित तथा सचित्र कृति है। इसमें पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवे, छठे, नवें और ग्यारहवें अध्याय के अन्त में सम्वन्धित विषयों पर आधारित चित्रों की रचना हुई है। छठे अध्याय में कहीं-कहीं खाली स्थान छोड़ दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि किसी कारणवश ग्रन्थ-चित्रण का कार्य अधूरा रह गया है। इस ग्रन्थ के चित्रों की विषयवस्तु निम्न प्रकार से है

प्रथम अध्याय	विश्वामित्र का अवधपुरी में आगमन
द्वितीय अध्याय	दशरथ-वशिष्ठ संवाद
तृतीय अध्याय	सीता-स्वयंवर
चतुर्थ अध्याय	वाणासुर-रावण संवाद
पंचम अध्याय	धनुष भंग वर्णन

षष्ठम अध्याय राम-विवाह वर्णन
नवम अध्याय राम का वन गमन
एकादश अध्याय (अ) शूर्पणखा-राम संवाद
(ब) लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के नाक-कान काटना

(विशेष विवरण के लिए देखिए, पहाड़ी चित्रकला : किशोरी लाल वैद्य, ओम चन्द हांडा, पृ. 250-255, चित्र संख्या-54, 55, 56 और 57)

रामचन्द्रिका के सभी चित्रों का आकृति-निरूपण जिस प्रकार की शैलीगत विपेशताओं को प्रकट करता है, वह मुख्य रूप से 18 वीं शताब्दी के चतुर्थांश में बनी दरबारी कृतियों के समीप है। उदाहरणस्वरूप राजा दशरथ की आकृति मंडी राजा सूरमा सेन की आकृति से साम्य रखती है। राजा का घुटने मोड़कर बैठना तत्कालीन प्रचलित पगड़ी तथा जामें की तिरछी बगली चाक निश्चय ही राजा सूरमा सेन (1781-1799 ई.) के समय में प्रचलित फैशन के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त इस काल में शृंगारित लम्बे आकार के नेत्रों को भी चित्रित किया गया है। इसी तरह चित्रित नारी आकृतियों (सीता, सखी, दासी, शूर्पणखा) के वस्त्रों में ओढ़नी पर तीन बिन्दुओं के त्रिकोण पैटरन (Pattern) तथा माथे, कान, गले एवं हाथों के आभूषण भी इसी समय के लघु-चित्रों में देखे जा सकते हैं।

लगभग 1790 ई. के इस सचित्र ग्रन्थ में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो दरबारी स्तर पर होते हुए लोक कला से अलग नहीं हैं। चित्रों में सपाट पृष्ठ-भूमि दिखाई पड़ती है। अग्रभूमि (Fore Ground) में गलीचे के सफेद तल पर लम्बवत् समान्तर रेखाओं के अंकन में अनगढ़ निरूढ़ता दिखाई देती है। राम की कुटी का मेहराबी द्वार एवं सरल संयोजन भी स्पष्टतः लोक शैली की विशेषताओं को प्रकट करता है। इस काल में मंडी राज्य में राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अव्यवस्था फैली हुई थी, जिसका प्रभाव इस सचित्र ग्रन्थ के चित्रण-कार्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

हिमाचल प्रदेश के राजकीय पुस्तकालय, सोलन में तीन सचित्र ग्रन्थ क्षतिग्रस्त अवस्था में हैं। ये तीनों ग्रन्थ राजा दुर्गासिंह सोलन द्वारा हिमाचल प्रदेश राजकीय पुस्तकालय को उपहार स्वरूप दिये गए हैं। ये ग्रन्थ कांगड़ा शैली से सम्बन्धित हैं। शैलीगत आधार पर उक्त ग्रन्थ लगभग 1850 ई. के प्रतीत होते हैं। 11X7.5 से.मी. आकार के एक ग्रन्थ में तीन चित्र प्राप्त हुए हैं। ग्रन्थ के अनेक पृष्ठों को चित्रांकन हेतु छोड़ दिया गया है। जो समयाभाव के कारण चित्र रहित दिखाई पड़ते हैं। *श्रीमद्भगवद्गीता* पर आधारित इस ग्रन्थ के चित्रों की विषयवस्तु निम्न प्रकार से है

1. धृतराष्ट्र और संजय
2. विष्णु के पैर दबाती श्रीलक्ष्मी

3. भीष्म पितामह शरशैय्या पर

1. *श्रीमद्भगवद्गीता* के पृष्ठ संख्या 101, 102 के मध्य 9X5.5 से.मी. का आयताकार संयोजन समविभक्ति के आधार पर है। बायीं ओर धृतराष्ट्र के सामने संजय बैठा है। आयताकार फर्श नारंगी रंग से चित्रित किया गया है। पृष्ठभूमि में गहरा हरा और ऊपरी कोने के आयतों में नारंगी रंग का सपाट प्रयोग किया है। चित्र के चारों ओर बैंगनी बार्डर में पुष्प युक्त बेल सजी है।
2. पृष्ठ संख्या 289, 290 के मध्य नीलवर्णी भगवान विष्णु को क्षीर सागर में शेषनाग पर लेटे दिखाया है। चार भुजाएँ हैं, जिनमें शंख, चक्र, गदा व कमल है। पीताम्बर पहने भगवान विष्णु के चरणों में बैठी लक्ष्मी पैर दबा रही है। नाभि से निकलते कमल पर चतुर्भुजी ब्रह्मा बैठे हैं। पृष्ठभूमि में नारंगी, लाल, गहरा हरा रंग प्रयुक्त हुआ है। हाशिये पर स्वर्ण रंग का प्रयोग हुआ है। अग्रभाग में आयताकार क्षीर-सागर कमल दलों से सुशोभित है।
3. ग्रन्थ के तीसरे और अंतिम चित्र में भीष्म पितामह शर शैय्या पर लेटे हैं। चित्र में बायीं ओर अर्जुन नारंगी जामा पहने बाण से जल-धारा निकाल रहे हैं, जो भीष्म के मुख की ओर आ रही है। श्रीकृष्ण ने विष्णु रूप धारण किया है। विष्णु के वाहन के रूप में गरूड़ करबद्ध खड़े हैं। पृष्ठभूमि में गहरा हरा और नारंगी रंग प्रयोग हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीता

दशमोध्याय के बाद इस ग्रन्थ में *'विश्वरूप-दर्शन'* का चित्र है, जो ग्रन्थ के मध्य चित्रित किया गया है। इस ग्रन्थ के लिपिकार नारायण दास कश्मीरी व रचनाकार आनन्द राम हैं। प्रस्तुत चित्र में अर्जुन ने अपने धनुष-बाण श्रीकृष्ण के चरणों में रख दिये हैं और हाथ जोड़कर युद्ध न करने के लिए उनसे प्रार्थना कर रहे हैं। श्रीकृष्ण ने अपना विराट स्वरूप दिखाया है, जिसमें अस्त्र-शस्त्र सुसज्जित हैं। दस भुजाओं युक्त श्रीकृष्ण का दिव्य रूप मनोहारी है। नीलवर्णी श्रीकृष्ण को पीताम्बर पहने दर्शाया गया है। अस्त्र-शस्त्रों का रंग सुनहरा है। सभी मुख अलग-अलग रंग से चित्रित हैं और सभी में मुकुट सजे हैं। अर्जुन बैंगनी जामा पहने हाथ जोड़कर खड़े हैं। पृष्ठभूमि गहरे नीले रंग की है। हाशिये पर बेल-बूटों की पुष्प-सज्जा है, जिस पर स्वर्ण रंग प्रयुक्त हुआ है। राजकीय पुस्तकालय, सोलन में संगृहीत इस सचित्र ग्रन्थ में कलाकार की दक्षता लघुचित्रों के समीप है।

गायत्री देवी

राजकीय पुस्तकालय सोलन, हिमाचल प्रदेश के संग्रह में तीसरा सचित्र ग्रन्थ *'गायत्री देवी'* पर आधारित है। 148 पृष्ठों के ग्रन्थ में पाँच चित्र हैं, जो एक

ही कलाकार द्वारा बनाये गए हैं। सभी चित्रों में पुनरावृत्ति का दोष है। सीमित रंगों द्वारा चित्रित विषयांकन लोक कला की ओर संकेत करता है। लोकजीवन में धार्मिक मनोवृत्ति और भक्ति की सच्ची प्रेरणा से ही ऐसे ग्रन्थों की रचना हुई है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में गायत्री देवी का चित्र है, जिसमें कमलासन चतुर्भुज देवी अपने हाथों में तलवार, कमण्डल और माला लिए नीले तकिये के सहारे नारंगी परिधान पहने बैठी है। वायीं ओर एक साधु नारंगी धोती पहने हाथ जोड़कर देवी के समक्ष खड़ा है। चित्र के चारों ओर नीला हाशिया जल्दबाजी को दर्शाता है।

इसी ग्रन्थ में पृष्ठ बाइस के बाद दूसरा चित्र बनाया गया है। इस चित्र के मध्य में चतुर्भुजी देवी है, जिसके दायें-बायें दो साधु हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं। देवी के हाथों में तलवार, माला और कलश है। बायीं ओर का साधु नारंगी धोती पहने है। दायीं ओर पीली धोती पहने छोटी आयु का बिना दाढ़ीवाला साधक है। पृष्ठभूमि में हरा रंग तथा अग्रभूमि में लाल रंग का प्रयोग है। रंग-रेखाओं की दृष्टि से कोमलता का अभाव है।

पृष्ट 47 के बाद तीसरा चित्र बनाया गया है, जिसमें कमलासन चतुर्भुजी देवी नारंगी लहंगा पहने, नीले गाव-तकिये के सहारे बैठी है। चारों हाथों में तलवार, कलश, पुष्प, रूण्डमाला है। गले में सर्पो की माला है, माथे पर तीसरा नेत्र है। देवी के बायीं ओर दाढ़ी युक्त साधु हाथ जोड़कर आसमानी नीले रंग की धोती पहने खड़ा है। देवी और साधक के शरीर को रंग से अछूता रखा गया है। पृष्ठभूमि में हरे और अग्रभूमि में लाल रंग का प्रयोग हुआ है।

पृष्ठ 61 के बाद चौथे चित्र में देवी गुलाबी कमल पर नारंगी लहंगा पहने बैठी है। चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पुष्प हैं। देवी के शरीर पर हल्का नीला रंग प्रयुक्त हुआ है। चित्र के चारों ओर लाल हाशिया है। इस चित्र में भी एक साधु को हाथ जोड़े दिखाया है।

'पंचमुखी हँस सवार देवी' विषयक चित्र ग्रन्थ का अंतिम चित्र है, जो पृष्ठ 108 के बाद चित्रित किया गया है। इस चित्र में बारह भुजाओं वाली देवी हँस पर स्थापित कमलासन पर बैठी है। पंचमुखी देवी के सभी मुख त्रिनेत्र दर्शाये गये हैं। मुखाकृति पर सफेद, नारंगी, हल्का नीला रंग प्रयोग हुआ है। शरीर का अधिकांश भाग रंगांकन से अछूता रखा है। देवी नारंगी लहंगा पहने है, जिस पर सुनहरा कार्य है। साधु का शरीर भी बिना रंग का है। वह धोती पहने हाथ जोड़कर खड़ा है। पृष्ठभूमि में हरा रंग व अग्रभाग में लाल रंग प्रयोग किया है। चारों ओर नीले रंग का हाशिया है, जिसमें दुर्बल व कठोर रेखाओं का प्रयोग कलाकार की जल्दबाजी की ओर संकेत करता है। ग्रन्थ के अन्त में निम्न श्लोक है

इति श्री गायत्री पटतालं समाप्तम।। शुभ।।

पहाड़ी चित्रशैली की प्राचीनतम कला-कृतियों में '*देवी माहात्म्य*' र[illegible]

पाण्डुलिपि प्रकाश में आयी है। प्रारम्भिक विश्लेपण के आधार पर यह कृति सोलहवीं शताब्दी के लगभग चित्रित की गयी। राजकीय संग्रहालय, शिमला में संगृहीत इस पाण्डुलिपि से यह उद्घाटित होता है कि मुगल-आगमन से पूर्व पश्चिमी हिमालय में चित्रकला की एक समृद्ध परम्परा रही है। इसके अतिरिक्त नृसिंह मंदिर फतेहपुर, (नूरपुर) के महंत के पास कलाकार गोलू द्वारा चित्रित ग्रन्थ विशेप महत्त्व का है। बसोहली शैली में चित्रित '*करूणाभरण*' सचित्र ग्रन्थ भारत कला भवन, बनारस में सुरक्षित है। इस तरह गढ़वाल शैली का '*सौन्दर्य लहरी*' ग्रन्थ है, जो संवत् 1870 भाद्रपद मास शुक्ल पक्ष में अलकनन्दा के किनारे तैयार किया गया। शैलीगत अध्ययन की दृष्टि से सचित्र ग्रन्थ लोक परम्परा के प्रभावानुकूल बने दिखाई पड़ते हैं। चित्रकारों ने शैलीगत विशेषताओं को ध्यान में रखकर चित्रण कार्य नहीं किया, जिसके फलस्वरूप शैलियों को पहचानने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वेशभूषा, आभूषणों, रंग तथा मुखाकृतियों की रचना-सहायता से ही विभिन्न शैलियों के चित्रों को अलग किया जा सकता है।

हिमाचल की तत्कालीन सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति को जानने के लिए ये सचित्र हस्तलिखित ग्रंथ उपयोगी हो सकते हैं।

संदर्भ

1. पहाडी चित्रकला : किशोरी लाल वैद्य, ओम चन्द हांडा (1999) दिल्ली
2. आर्ट आफ हिमाचल : विश्वचन्द्र ओहरी, पृष्ठ 199, चित्र 81
3. पहाड़ी मिनियेचर पेंटिंग : खण्डालावाला (1958) वम्बई
4. इलस्ट्रेटिड मेनास्क्रिप्ट ऑफ मधु मालती : जगदीश मित्तल, लेख, ललित कला नं. 3-4 (1956-59) दिल्ली
5. करूणाभरण : गोपाल कृष्ण, लेख कलानिधि, भारत कला भवन बनारस, वर्ष-1, अंक 1
6. एन इलस्ट्रेटिड मेनास्क्रिप्ट ऑफ द सुन्दर शृंगार फ्रॉम कुल्लू : डॉ. बी. एन. गोस्वामी, लेख रूपलेखा वोल्यूम न. 1 और 2,
7. इण्डियन पेंटिग फ्राम द पंजाब हिल्स : आर्चर (1773) वोल्यूम-प्रथम, फिगर-37, 38-39
8. राष्ट्रीय संग्रहालय, जनपथ नई दिल्ली
9. हिमाचल राज्य पुस्तकालय, सोलन, हि. प्र.
10. राजकीय संग्रहालय, शिमला, हि. प्र.
11. भारत कला भवन, बनारस

भोटी भाषा की पांडुलिपियाँ

छेरिंग दोरजे

पांडुलिपि हस्तलिखित उस ग्रंथ या लेख का नाम है, जिसकी विशिष्टता उसकी विषय-वस्तु और प्राचीनता पर आधारित होती है। ये लेख भूर्जपत्रों, तालपत्रों, वृक्ष की छालों, जानवर की खालों, विशेष वनस्पतियों के पत्तों, कागज़ों तथा सूती, रेशमी और ऊनी कपड़ों की पट्टिकाओं पर अंकित किए गए होते हैं। समय बीतने के साथ इनकी रंगत में तबदीली आने से, विशेषकर कागज़ों में पीलापन अर्थात् पांडु रंग आ जाने के कारण इन्हें पांडुलिपि कहा जाने लगा।

प्राचीन और दुर्लभ पांडुलिपियाँ अधिकतर शीतल जलवायुवाले भूभाग और मरुभूमि में सुरक्षित रही हैं। उष्ण तथा अधिक वर्षावाले क्षेत्रों में पांडुलिपियाँ खराब हो जाती हैं। परंतु वर्तमान में वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा इन भूखंडों में भी ये पांडुलिपियाँ चिरकाल तक सुरक्षित रखी जा सकती हैं।

वस्तुतः कागज़ की खोज से पूर्व संसार में प्राचीनतम लेख भांड पट्टिकाओं, भित्तियों, शिलाओं, स्लेटों, हड्डियों के टुकड़ों, काष्ठ फलकों, धातुओं के पत्रों (ताम्रपत्र आदि) में खुदे मिलते हैं, परंतु इन लेखों को पांडुलिपि के रूप में परिभाषित किया जाना उचित नहीं है।

हिमालयी बौद्ध क्षेत्रों में पांडुलिपियाँ प्रायः हस्त-निर्मित कागज़ों पर लिखी होती हैं, परंतु स्तूपों और मूर्तियों के 'धारणी मंत्र' भूर्जपत्र पर लिखे मिलते हैं। कई प्रकार के ये धारणी मंत्र स्तूपों और मिट्टी से बनी बड़ी मूर्तियों के भीतर भी रखे जाते हैं। तत्पश्चात् उन स्तूपों और मूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा करवाई जाती है। आजकल धारणी मंत्र कागज़ पर छाप कर भी प्रयोग में लाए जाने लगे हैं।

पाठकों को दो विशेष प्रकार की अपूर्व सुलेख पांडुलिपियों ग्सेर-यिग (स्वर्ण अक्षर) तथा क्-बुर्तन (आज्ञा पत्र) के बारे में जानकारी होना आवश्यक है। पांडुलिपियाँ तैयार करने के लिए विशेष गत्तानुमा मोटा कागज़ बनाया जाता है। गत्ता

बनाना ही काफ़ी श्रम-साध्य होता है। एक विशेष प्रकार की छोटी काँटेदार झाड़ी (Astragalus) को कूट कर लुगदी तैयार की जाती है। लुगदी को सूती चादर की चौखट में डाल कर पानी भरी क्यारियों में सूखने के लिए रखा जाता है। सूखने पर पत्थर से रगड़ कर इसकी सतह को चिकना किया जाता है। फिर गत्ते को नीले रंग से रंगा जाता है। इसे 'रम शोग' (नील रंग का कागज़) कहा जाता है। अब शुद्ध सोने से तैयार की गई स्याही से इस पर सुंदर अक्षरों में लिखा जाता है। इस प्रकार स्वर्णाक्षर में लिखी पोथियाँ अधिकतर बौद्ध सूत्रों की पोथियाँ हैं। जैसे अष्ट साहस्रिक प्रज्ञापारमिता, वज्रच्छेदिक, सधर्मपुंडरीक, स्वर्ण प्रभा, ललित विसार इत्यादि।

क्-बूर्तन (आज्ञा पत्र) यह रेशमी पट्टिका पर लाल सिंगरफ से लिखा रहता है। अधिकतर क्-बूर्तन बौद्ध संघारामों के संघराजों द्वारा अधीनस्थ विहारों के मुख्य उपाध्यायों को दिए गए नियुक्ति पत्र हैं, जिनके अंत में प्रेषक की मोहर लगी होती है। रेशम की पट्टिका पर सुंदर बेल-बूटे चित्रित होते हैं। स्पीति और लद्दाख के गोन्पाओं में टशीलहुनपो (तिब्बत) महाविहार के संघराज पंचम लामाओं की निजी मोहर सहित चंद रेशमी पट्टिकाएँ सुरक्षित हैं। इन रेशमी पट्टिकाओं के लिखित रूप उ-मेद अक्षर हैं।

भोटी या तिब्बती लिपि का आविष्कार

आठवीं शताब्दी से पूर्व तिब्बत देश में अक्षर ज्ञान नहीं था। सम्राट स्रोङ-चेन-गम्पो ने मंत्री थोन्मी संभोट के नेतृत्व में बारह होनहार तिब्बती युवकों को अक्षर ज्ञान हेतु भारत भेजा था। सात वर्ष तक संभोट और उनके साथियों ने भारत में अक्षर तथा लेखन पद्धति पर अध्ययन किया। वापिस आकर उन्होंने भोटी भाषा के लिए नवीन लिपि का आविष्कार किया, इसमें तीस व्यंजन और चार स्वर के अक्षर बनाए गए। इन नए अक्षरों का नमूना उस समय की प्रचलित देवनागरी पर आधारित था। तिब्बती विद्वान गेदुन छोमफेल ने इसे गुप्तकालीन लिपि का नमूना कहा है। तिब्बती भाषा को लिपि मिलने के पश्चात् विद्वान् अनुवादकों द्वारा भारतीय बौद्ध धर्म ग्रंथों का भोटी भाषा में अनुवाद कार्य आरंभ किया गया। इसके लिए राज्य की ओर से सब प्रकार की सहायता की जाती थी। अनुवाद के लिए दो या उससे अधिक विद्वान अनुवादक एक योजना को लेकर कार्यरत रहते थे। इन अनुवादकों में एक भोटी भाषा और एक संस्कृत भाषा का विद्वान होता था। अनूदित ग्रंथों के अंत में दोनों अनुवादकों के नाम लिखे रहते थे।

भोटी भाषा को अपनी इस अस्तित्व यात्रा में तीन बार सुधार प्रक्रियाओं से गुज़रना पड़ा था। आरंभ से सातवीं शताब्दी के अंत तक लगभग डेढ़ सौ वर्षों में कुछ संयुक्त अक्षरों की लिखावट में सुधार किया गया था। मध्य एशिया के दुनवङ गुफ़ा मंदिरों से मिले लेखों और प्राचीन शिला-स्तंभों के लेखों में आज भी उन प्राचीन अक्षरों के नमूने देखे जा सकते हैं। दूसरी बार नौवीं शताब्दी में सम्राट *ठिन-दे-स्रोङ चन*

के समकालीन विद्वान् अनुवादकों   कवा पल चेग्स, चोगरो लुई ग्यलछन और जङ येशेस दे आदि ने वर्ण विन्यास में कुछ एक तबदीलियाँ कीं। तीसरी बार ग्यारहवीं शताब्दी के महानुवादक रिन्छेन जङपो के समय से पंद्रहवीं शताब्दी तक के विद्वान अनुवादकों शलु छो क्योङ जङपो आदि ने शब्द विन्यास में एकरूपता लाने का प्रयास किया। फिर भी भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखे जाने के कारण शब्द विन्यास में कुछेक भिन्नता आ ही जाती थी। जैसे कि ग्यारहवीं शताब्दी के स्पीति ताबो विहार के भित्ति आलेख में प्रसिद्ध श्रेष्ठी पुत्र सुधन की जीवनी में छोङपोन (व्यापारी) के दो अलग-अलग रूप छोङपोन तथा छोङफोन लिखे मिलते हैं। आज भी किन्नौर में 'प' का उच्चारण 'फ' किया जाता है। यही कारण रहा होगा कि स्थानीय लेखक ने पोन के स्थान पर फोन लिख दिया होगा। महान आचार्य चोङ खापा के समय पंद्रहवीं शताब्दी में काष्ठ फलक मुद्रण का प्रयोग आरंभ हो गया था। जिससे प्रकाशन में एकरूपता आ गई।

उन्नीसवीं शताब्दी में किन्नौर के विख्यात ज्योतिषी लामा सोनम डुग्गे ने तिब्बती पंचांग की शिलामुद्रण (Lithagraphy) प्रतियाँ छाप कर तिब्बत भेजीं। लाहुल में स्थापित जर्मन मोरावियन मिशन के कार्यकर्ताओं द्वारा प्रथम बार उन्नीसवीं शताब्दी में आधुनिक धातु शब्द मुद्रण का प्रयोग आरंभ किया गया। इन्होंने जंस्कर के लेखकों द्वारा लिखित पोथियों से भोटी अक्षरों का नमूना चुन कर बरलिन (जर्मनी) में धातुओं के अक्षर बनवाए और कालिमपोंग (बंगाल) में बेवटिस्ट मिशन प्रैस के नाम से छपाई कार्यशाला चलाई। यहाँ भोटी में अनूदित बाइबल और अन्य धार्मिक पुस्तकों की छपाई आरंभ की। आज तिब्बत में इसी आधुनिक मुद्रण प्रणाली का प्रयोग हो रहा है।

भोटी या तिब्बती दो प्रकार की लिपियों उ-चन (शिरधारी) तथा उ-मेद (बिना शिर अक्षर) में लिखी जाती है। अधिकतर अनूदित धार्मिक ग्रंथ उ-चन (शिरधारी अक्षर) में लिखे गए हैं। उ-मेद में राजकीय अभिलेख, पत्राचार तथा अन्य रचनाएँ लिखी गई हैं। बोन धर्म के अधिकतर धार्मिक ग्रंथों के लिए उ-मेद का प्रयोग हुआ है। पाँचवी शताब्दी के पश्चात् काष्ठ फलक मुद्रण में उ-चन लिपि ही प्रयुक्त होने लगी। केवल कुछेक काष्ठ फलक उ-मेद में खुदे मिलते हैं। इसके अतिरिक्त महायोगियों द्वारा योग्य शिष्यों को गूढ़-गुह्य शिक्षाएँ मौखिक तौर पर ही दी जातीं हैं। शिष्य उन शिक्षाओं को पत्रकों में संक्षिप्त रूप में लिखते हैं। प्रायः ये लेख उ-मेद में लिखे जाते हैं। इस पत्रक को शोग डिल (गोल-पत्र) कहा जाता है। तिब्बत में ञिङमा सम्प्रदाय (सनातन मत) के अंतर्गत तेर-मा (निधि) साहित्य का पर्याप्त भंडार मौजूद है। ञिङमा संप्रदाय में विशेष योगियों की एक सीमित श्रेणी है, जिसे तेर-तोन-पा (निधि प्राप्तकर्ता) के नाम से जाना जाता है। ये लोग साधारण लामाओं की भाँति रहते हैं। पूर्व काल में कुछेक तेर-तोन-पा विशेष रूप से विख्यात रहे हैं।

इन्होंने दुरूह स्थानों से तेर अर्थात् निधि प्राप्त की है। यह निधि लिखित पोथी या पत्रक हो सकते हैं, जिन्हें पूर्व में संभवतः किसी तेर-तोन ने छुपाया होगा। यह तेर शिक्षाओं की पोथी या पत्रक होते हैं। कुछेक में भविष्यवाणी भी की होती है। तेर-मा साहित्य अधिकतर उ-मेद अक्षर में ही लिखा मिलता है।

पंद्रहवीं शताब्दी में काष्ठ फलक मुद्रण शुरू होने के पश्चात् विविध साहित्य का लेखन होने लगा। हस्तलेखों के स्थान पर पुस्तक का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तो उसकी अनेक प्रतियाँ बड़ी संख्या में छपने लगीं। संसार में बौद्ध धर्म से सम्बंधित साहित्य सब से अधिक है, जिसे कंग्युर (बुद्ध वचन अनुवाद) और तंग्युर (शास्त्र अनुवाद) कहा जाता है। कंग्युर संग्रह में एक सौ चार और तंग्युर संग्रह में एक सौ पचासी पोथियाँ हैं। इन दोनों महासंग्रहों का काष्ठ फलक मुद्रण प्रथम बार चौदहवीं शताब्दी में चीन की राजधानी बीजिंग में किया गया था। तत्पश्चात् पूर्वी तिब्बत के अमदो प्रांत के देरगे महाविहार में और फिर मध्य तिब्बत में ल्हासा के समीप नर-थङ विहार में मुद्रण आरंभ हुआ। हिमाचल प्रदेश में काष्ठ फलक मुद्रण के ये दोनों संग्रह सत्रहवीं शताब्दी के अंत में पहली बार नरथंग से किन्नौर के कानम ग्राम में लोगटस नेगी के निजी पुस्तकालय में लाए गए। यूरोप के प्रथम तिब्बती भाषाविद् हंगरी के नागरिक चोमा दी- कोरोस ने कानम में रहकर इन्हीं संग्रहों पर आधारित अध्ययन दो वर्षों तक किया था।

भोटी साहित्य को मोटे रूप में दो भागों में बाँटा जा सकता है धार्मिक तथा लौकिक। व्याकरण, आयुर्वेद शास्त्र तथा न्याय सम्बंधी बहुत कम कुछ ऐसी साहित्यिक रचनाएँ भी हैं, जिनमें धार्मिक प्रभाव लक्षित नहीं होता।

यहाँ धार्मिक साहित्य का विवरण दिया जा रहा है। बौद्ध धर्म से सम्बंधित साहित्य के महान् संग्रह को कंग्युर कहा जाता है, जिसे संस्कृत भाषा से भोटी भाषा में अनूदित किया गया है। इस संग्रह में बौद्ध धर्म के सूत्र और तंत्र दोनों शिक्षाओं के ग्रंथ सम्मिलित हैं। इनमें अधिकतर ग्रंथों का अनुवाद प्रथम धर्मोदय काल (तन-पाङ-दर) सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक हुआ है परंतु बहुत से सूत्र ग्रंथों का अनुवाद द्वितीय धर्मोदय काल (तन-पा छि-दर) ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ है और इस काल में पूर्व अनूदित ग्रंथों का संशोधन कार्य भी हुआ है। कंग्युर संग्रह के अधिकतर तंत्र ग्रंथों को नवतंत्र कहा जाता है और कुछेक को पुराण तंत्र। नवतंत्र उन ग्रंथों को कहा जाता है, जिनका द्वितीय धर्मोदय काल में महानुवादक रिन्छेन जङपो (958-1051 ई.) ने समय-समय पर अनुवाद किया। पुराण तंत्र वे हैं, जिन्हें प्रथम धर्मोदय के समय सातवीं शताब्दी से लेकर आचार्य स्मृतिज्ञान के समय यानी ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अनूदित किया गया है। अधिकतर पुराण-तंत्र ञिङ मा-तंत्र शास्त्र संग्रह (ञिङमा ग्युद बुम) में शामिल हैं। कंग्युर और तंग्युर संग्रह में ग्रंथों का विवरण इस प्रकार है

कंग्युर संग्रह (बुद्ध वचनानुवाद) तालिका-1

क्रम	ग्रंथों के नाम	ग्रंथ संख्या	निबंध संख्या
1.	तंत्र (ग्युद)	24	729
2.	प्रज्ञापारमिता (शेरछिन)	23	30
3.	रत्नकूट (कोन-चेग्स)	6	1
4.	अवतंसक (फल-छेन)	6	1
5.	सूत्र (दो)	32	269
6.	विनय (दुल-वा)	13	16
7.	ञिङमा ग्युद बुम संग्रह (पुराण तंत्र)	33	375
		137	**1421**

तंग्युर संग्रह (शास्त्र संग्रह) तालिका-2

क्रम	ग्रंथों के नाम	ग्रंथ संख्या	निबंध संख्या
1.	स्तोत्र (तोद शोग)	1/2	63
2.	तंत्रीटीका (ग्युदडेल)	85 1/2	3120
3.	प्रज्ञापारमिता (शेर-छिन)	16	40
4.	मध्यमक (उमा)	17	257
5.	सूत्रटीका (दो डेल)	10	40
6.	चित्तमात्र योगचर्या (सेम-चम)	18	45
7.	अभिधर्म (ङोन-पा)	11	19
8.	विनय (दुल-वा)	18	66
9.	जातकमाला (के-ख्स) के खस	31/2	8
10.	लेख (टिङ-यिग)	1/2	42
11.	सदार्म शास्त्र (थुन-मोङ दङ डो-छर तन-छोस)	5	85
		185	**3785**

(यह तालिका बीजिंग (चीन) संग्रह के अनुसार दी गई है।)

भोट विद्वानों द्वारा रचित साहित्य

बौद्ध धर्म पर भोट विद्वानों और महान् संतों द्वारा लिखे गए साहित्य का अथाह भंडार उपलब्ध है। इनमें भारतीय विद्वानों और आचार्यों द्वारा बौद्ध धर्म के सूत्र, तंत्र और टीकाओं पर रचित ग्रंथों में भोट विद्वानों के व्याख्यात्मक और समीक्षात्मक लेख हैं। इस महान् साहित्य को समझने के लिए तिब्बती बौद्ध धर्म के विभिन्न मतों की जानकारी होना ज़रूरी है। इन मत-मतांतरों को स्थानीय विद्वानों और संतों ने अपने विवेक और अनुभव द्वारा विकसित किया है। तिब्बत में ञिङ-मा-पा, कर्ग्युद-पा, साक्या-पा और गेलुग-पा ये चार महा और बहुत से लघु धार्मिक मत विकसित हुए हैं। बौद्ध धर्म के चार महामतों के मध्य मुख्य मतभेद तंत्र पर आधारित व्याख्या को लेकर रहा है। प्रत्येक मत के विभिन्न व्याख्यात्मक विवरण हैं। पुराणपंथियों या प्रथम धर्मोदय (तन-पा ङा-दर) कालीन मत के अनुयायियों को ञिङ-मा-पा अर्थात् सनातन धर्मी कहा जाता है। शेष तीन मतों कर्ग्युद-पा, साक्या-पा और गेलुग-पा के अनुयायियों को सरमा-पा अर्थात् नवीन पंथी कहते हैं।

हिमाचल प्रदेश के जनजातीय क्षेत्र के दो ज़िलों किन्नौर और लाहुल-स्पीति में पांडुलिपियों का अच्छा-ख़ासा भंडार उपलब्ध है। ये पांडुलिपियाँ दो लिपियों भोटी (तिब्बती) और टांकरी में हैं। जनजातीय ज़िलों में बौद्ध धर्म के अनुयायी अधिक संख्या में है, अतः भोटी लिपि में बौद्ध साहित्य का मिलना स्वाभाविक है। स्वतंत्रता से पूर्व बुशहर तथा चम्बा रियासत के अधीनस्थ होने के कारण यहाँ टांकरी भाषा के राजपत्र भी मिल जाते हैं। इन दोनों ज़िलों में बौद्ध साहित्य हस्तनिर्मित कागज़ों पर हस्तलिखित और काष्ठ-फलक पर मुद्रित दोनों रूपों में उपलब्ध है। कुछेक प्राचीन मुख्य पांडुलिपियों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित ताबो बौद्ध विहार में कंग्युर तथा तंग्युर पोथियों की हस्तलिखित साठ गठरियाँ हैं। इन गठरियों में पोथियों के पन्ने बेतरतीब तौर से इकट्ठे किए हुए हैं। अनुमानतः यह दसवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य में लिखे गए कंग्युर और तंग्युर की पोथियों का संग्रह है, जब 1834 ई. में डोगरा सेनाओं ने लद्दाख पर हमला कर इस विहार को क्षति पहुँचाई थी। डङ-खर विहार में प्रज्ञापारमिता की बारह हस्तलिखित पोथियाँ हैं। पिन घाटी के ञिङमा गोन्पा में ञिङ-मा का-बुम की बीस, विनय की तेरह हस्तलिखित पोथियाँ हैं और स्वर्णाक्षर रचित अष्टसाहस्रिक प्रज्ञापारमिता, ललितविसार और वज्रच्छेदिक ग्रंथ हैं।

तंग्युद गोन्पा में साक्या मत की हस्तलिखित मूल पोथियाँ हैं। लाहुल के शाशुर गोन्पा में प्रज्ञापारमिता की बारह हस्तलिखित पोथियों के अतिरिक्त स्वर्णाक्षर में सधर्मपुंडरीक और वज्रच्छेदक की एक पोथी है। गुमरंग ठाकुर के घर प्रज्ञापारमिता की बारह हस्तलिखित पोथियाँ हैं। सिसू में ठाकुर दुनीचंद के घर में पंद्रहवीं शताब्दी में लिखित लघु-सूत्र संग्रह और अष्ट साहस्रिक प्रज्ञापारमिता की पोथियाँ हैं।

गोंधला में ठाकुर के घर चौदहवीं शताब्दी की कंग्युर और तंग्युर की छत्तीस हस्तलिखित पोथियाँ हैं। लाहुल और स्पीति के प्रत्येक घर में बौद्ध सूत्रों की दो-तीन हस्तलिखित पोथियाँ अवश्य मिलती हैं।

वर्तमान में पश्चिमी हिमालयी बौद्ध क्षेत्रों में कुछ विशेष प्राचीन पांडुलिपियों के संग्रह मौजूद हैं। इन पांडुलिपियों के रचना केन्द्र थोलिङ् और पुरेङ् (ङा-रि प्रदेश तिब्बत) में थे। पांडुलिपियाँ तैयार करने के अनेक स्थान रहे हैं, जिनमें स्पीति का ताबो, लद्दाख का ञेरमा, जंस्कर का करशा, बलतिस्तान का स्कर-दो, लाहुल का गोंधला और किन्नौर का स्पू और चारङ प्रमुख रहे हैं। उत्तरी नेपाल में भी डोलपो और मुसतङ् में ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार की जाती थीं। थोलिङ और पुरेङ के प्राचीन विहारों में पांडुलिपियों के अथाह भण्डार थे। तिब्बत में सांस्कृतिक परिवर्तन के समय इन्हें क्षति पहुँचाई गई है। किन्नौर के चारङ स्थित रङरिग चे विहार में भी पांडुलिपियाँ हैं।

लोक मान्यता के अनुसार ये ग्रंथ महानुवादक रिन्छेन जङ-पो के समय लिखे गए हैं। इन ग्रंथों में प्रज्ञापारमिता, तंत्र और सूत्र हैं। स्पीति के ताबो महाविहार में 9 वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी की 25 पोथियाँ हैं। स्पीति के ल्हलुङ, डङ्खर क्यी गोन्पाओं में भी पाडुलिपियाँ विद्यमान हैं। लाहुल में गोंधला, शाशुर और लबरङ गोन्पाओं में 14वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक लिखित प्रज्ञापारमिता, अवतंसक तंत्र और विनय की पांडुलिपियाँ हैं। जंस्कर (जिला करगिल) में फुगतल, करशा और युल-छुङ् में 10वीं से 15वीं शताब्दी तक की पोथियाँ हैं। लद्दाख में लेह के प्राचीन राज-प्रासाद के मंदिर में स्वर्ण अक्षरों में लिखित कंग्युर संग्रह (बुद्ध वचन अनुवाद) मौजूद हैं, जिसे लद्दाखी राजा सेंङ-ग्ये नम-ग्यल के काल में लिखवाया गया था। लद्दाख के नुबरा क्षेत्र के देस-क्सिद में भी प्रज्ञापारमिता की प्राचीन पोथियाँ मौजूद हैं।

शिमला ज़िला की प्राचीन पांडुलिपियाँ

राजपाल वर्मा

पांडुलिपियाँ यानी हस्तलेख हमारी अमूल्य धरोहर हैं। शुरुआती दौर में मनुष्य द्वारा अपने विचारों व भावों को चित्रों के रूप में व्यक्त किया जाता था। लेकिन बाद में लिपियों के बनने के साथ जब लेखन सामग्री की तकनीकें ईज़ाद हुईं तो इनका रूप भी बदलने लगा। प्रकाशन की प्रक्रिया से पूर्व हस्तलेख ही किसी रचना के प्रामाणिक आधार थे।

यद्यपि चिह्नित लेखन का इतिहास मानव सभ्यता के इतिहास जितना ही प्राचीन है, तथापि व्यवस्थित लिपि का विकास भी धीरे-धीरे होता रहा। पाषाण युग की आकृतियों की खुदाईवाली रचनाएँ शिला-लेखों के रूप में उपलब्ध हैं, फिर धातु युग में धातु की बनी पट्टियों पर उकेरी या खोदी हुई रचनाएँ मिलती हैं। इन्हें धातु की पांडुलिपियाँ कहा जा सकता है। फिर वह समय आया जब लिपियों के प्रचलन के साथ अन्य प्रकार की लेखन सामग्री का विकास हुआ और विद्वानों ने लेखन के लिए 'जैविक अंगों', जैसे पशुओं की चमड़ी और अंतड़ियों के नीचे की झिल्ली, पेड़ों के पत्तों या छालों का इस्तेमाल आरंभ किया। पेड़ों की छालों व पशुओं की झिल्लियों पर लिखने की कला पाँच हज़ार वर्ष ईसा पूर्व भारत, मिस्र व चीन में पनपी बताई जाती है, परंतु इसका प्रामाणिक समय तीन हज़ार वर्ष ईसा पूर्व ही कहा जाता है। भारत में ताड़पत्र, भोजपत्र, लकड़ी व बाँस की खपचियों पर लेखन कार्य का प्रचलन रहा है। मिस्र में पेपिरस नाम के पौधे का कागज़ तैयार करके उस पर लिखा जाता था। लेखन के लिए स्याही और कलम का आविष्कार तो भित्तिचित्रों जितना ही पुराना है।

साधारण शब्दों में हस्तलेख को पांडुलिपि कहा जाता है। प्राचीन काल में जिन वस्तुओं, जैसे पशुओं की झिल्ली, ताड़पत्र, भोजपत्र आदि पर हाथ से लिखा जाता था, उनका रंग पीलापन लिए होता था, यानी वे पांडुवर्ण की होती थीं। इसी

कारण इन हस्तलेखों को पांडुलिपियाँ कहा जाने लगा।

हिमाचल प्रदेश के ज़िला शिमला में भी अन्य क्षेत्रों की भाँति हज़ारों की संख्या में प्राचीन पांडुलिपियाँ विद्यमान हैं। प्राचीन और दुर्लभ पांडुलिपियों के संग्रह यहाँ के मंदिरों के अतिरिक्त संग्रहालयों, पुस्तकालयों, विद्वानों व विभिन्न व्यक्तियों के पास उपलब्ध हैं।

पांडुलिपियों को स्थानीय बोली में 'पोथी' और पेपर-रोल के दस्तावेज़ को 'चिट्ठू' कहते हैं। यहाँ ज़्यादातर पांडुलिपियाँ ब्राह्मण परिवारों में पाई जाती हैं। सर्वेक्षण के दौरान विद्वान् ब्राह्मण परिवारों में यह परम्परा पाई गई कि जब भाइयों का आपस में बंटवारा होता है तो वे अपने खेत, जेवर व रुपया-पैसा बाँटने से पहले इन पोथियों का बंटवारा करते हैं। उसके बाद ही वे अपनी दूसरी सम्पत्ति को बाँटते हैं। इसलिए यह कोई अतिशयोक्ति नहीं कि आज भी इस ज़िला में लोग अपनी अन्य सम्पत्ति के साथ-साथ पांडुलिपियों को श्रेष्ठ स्थान देते हैं। यहाँ पांडुलिपियों का ख़ज़ाना केवल ब्राह्मणों, राजवैद्य व राजसी परिवारों के पास है। अन्य वर्गों के पास यह बेशक़ीमती संपत्ति नहीं है। शिमला ज़िला में अधिकांश पांडुलिपियाँ कागज़ पर लिखित हैं। कुछ पांडुलिपियाँ भोजपत्रों, सफ़ेद कपड़े यानी लट्ठे और ताम्र पत्रों पर भी मौजूद हैं। यहाँ के लोगों ने इन पांडुलिपियों को घर में एक विशेष स्थान पर रखा होता है और उस स्थान की शुद्धता का विशेष ध्यान रखा जाता है। सुबह-शाम वहाँ पूजा की जाती है। कहीं-कहीं उस स्थान पर घर के कुछ ही सदस्यों को जाने की अनुमति होती है, सभी को नहीं।

शिमला ज़िला में अलग-अलग विषयों पर पांडुलिपियाँ पाई गई हैं, जिनमें इतिहास, वेद, पुराण, संगीत, धर्मशास्त्र, दर्शन, आयुर्वेद, काम शास्त्र, गीता, ज्योतिष, कोश, व्याकरण, वास्तु, काव्य, तंत्र, मंत्र, यंत्र आदि विषय शामिल हैं। इन पांडुलिपियों को लिखने का कार्य प्रदेश के राज पुरोहितों और अन्य विद्वानों के साथ-साथ गढ़वाल व अन्य प्रदेशों से आनेवाले विद्वानों और तपस्वियों ने भी किया है। आज़ादी से पूर्व लिखने-पढ़ने का अभाव होने के कारण यहाँ के कुछेक विद्वानों ने गढ़वाली ब्राह्मणों को बुला कर उनसे ग्रंथों को लिखवाने का काम करवाया। ऐसा इस बात से प्रमाणित होता है कि अधिकांश पांडुलिपियों में गढ़वाली विद्वानों के नाम अंकित मिलते हैं। यहाँ के विद्वान् या तो अपने पुरखों से विद्या हासिल करते थे या फिर वे पढ़ने-लिखने व विशेषज्ञ बनने के लिए बंगाल, काशी, कश्मीर, पंजाब या अन्य प्रदेशों से आए विद्वानों से या उन क्षेत्रों में जा कर शिक्षा-दीक्षा लेते थे। कुछ गिने-चुने परिवारों के लोग अध्ययन के लिए लाहौर भी जाते थे। ज़िला शिमला में निम्न विषयों से सम्बंधित पांडुलिपियाँ उपलब्ध हैं

वेद : वेदप्रश्नोत्तरमाला, सामवेद संहिता, धनुर्वेद संहिता, बाण विद्या-शास्त्र।
पुराण : मार्कंडेय पुराण, गरुड़ पुराण, भविष्य महापुराण, श्रीमद्विष्णु पुराण, कल्कि

पुराण, वामन पुराण, वराह पुराण आदि।

आयुर्वेद : श्रीरणवीर प्रकाश, नाड़ी प्रकाश, शार्ङ्धर संहिता, आयुर्वेद भास्कर, पातंजल योग सूत्रम्, पंचवैद्य, सुखानंद विनोद, शार्ङ्धर यदगरूढ़ीयदीपिका, वैद्यमनोसत्व, वैद्यजीवनम्, वनौषधि बृहन्निघंटु रत्नाकर, नशाखंडन पंचासा, रसराजमहोदधि, मेधविलास, धनवंतरी, नाड़ी ज्ञानम् के अतिरिक्त अर्क प्रकाश, नागेश्वर रस, ज्वरांश रस, नवजीवन रस तथा चिंतामणि रस बनाने सम्बंधी विधियाँ।

ज्योतिष : सामान्य व विशिष्ट ज्योतिष यथा ज्योतिष सारणी, मकरंद सारणी, कर्म विपाक संहिता, ताजिक नीलकंठी, गर्भ कुंडली, जन्म कुंडली, लग्न कुंडली, गर्भ मनोरमा, ज्योतिष ग्रंथ, हनुमान ज्योतिष, मुहूर्त्त चिंतामणी, पंचांग, रमल ज्योतिष, भृगु संहिता महाशास्त्र, केरली प्रश्नरत्न्य, ज्योतिश्याम संग्रह, तात्कालिक भृगु प्रश्न, ज्योतिप शास्त्र सोपान, सामुद्रिक शास्त्रम्, बृहत् मुहूर्त्त सिंधु, होरा शास्त्रम्, आयु निर्णय, जातक चंद्रिका, प्रश्न चंडेश्वरी, प्रश्न बेला, पंचांग दीपिका, शम्भुहोराप्रकाश, ताजिक भूपण, चूलीचक्र, ज्योतिष गणित, प्रसूती लग्न विचार, प्रश्न विद्या, लग्न, स्वप्न परीक्षा आदि।

यंत्र, मंत्र व तंत्र : इनमें सर्वकीलक मंत्र, शंभुभक्षण मंत्र, सुखद प्रसव मंत्र, सुखद प्रसव यंत्र, भूत-प्रेत, डंकिणी-पिशाचिका मंत्र-तंत्र, रात्रि ज्वर नाशक मंत्र, मिरगी नाशक यंत्र, हनुमान जी का सर्वरक्षा मंत्र, खेत से कीड़े-मकोड़े भगाने का यंत्र, नारसिंह वीर यंत्र, सिर पीड़ा नाशक यंत्र, बालक रक्षा यंत्र, अन्नवृद्धि यंत्र, शाई नाशक मंत्र, खुर व्याधि नाशक मंत्र, दाढ़ की दर्द व पीलिया को दूर करने तथा सर्प-विष उतारने के मंत्र, तुलसी धारण मंत्र, शनि साढ़ेसती मंत्र आदि शामिल हैं।

स्तोत्र : विभिन्न स्तोत्रों में तारा भैरव, महाकाल, इंद्राक्षी, नृसिंह, रुद्राक्ष, अपराजिता, चक्रपूजा, बगलामुखी, तारिणी शतनाम, श्रीगायत्री हृदय, सप्तश्लोकी दुर्गा, नवग्रह, आदित्य हृदय, संतानगोपाल, शिव, गंगा, कुंडलिनी, बाला त्रिपुर सुंदरी, पंचमुखी हनुमान और भौम शामिल हैं।

वास्तु : वास्तुकला में वास्तुसारणी, वास्तु प्रतिष्ठा संग्रह, वास्तु शास्त्र, विश्वकर्मा प्रकाश, वास्तु मंडल से सम्बंधित पांडुलिपियाँ प्राप्त होती हैं।

धर्मशास्त्र : धर्म शास्त्र में हिन्दू धर्म से जुड़ा साहित्य यथा निर्णय सिंधु, धर्म सिंधु, प्रेम सागर, सुखसागर, रामायण, महाभारत, अमृतसागर, शनैश्वर पूजा विधि, सत्यनारायण व्रत कथा, तुलसी रात्रि व्रत कथा, अष्टयोगिनी जप विधि, स्त्री धर्म, मनु स्मृति, पतिव्रता माहात्म्य, नरमेध यज्ञ पद्धति, नवरत्न विवाह पद्धति, विधवा विवाह पद्धति, मलमास के पूजन की विधि, छाग बलि विधि, पड़ाक्षरी पूजन विधि, राधेश्याम रामायण, काक विष्ठा पतन शांति, कड़ासनी पूजन संग्रह, पार्वती परिणयम्, नाग लीला, ब्रह्म विवाह विधि, शूद्र विवाह विधि, वर्णाश्रम पद्धति आदि शामिल हैं।

गीता : इस के अंतर्गत पंचरत्नी गीता, नारद गीता, श्रीपुरुपोत्तम गीता, अर्जुन गीता,

पांडव गीता, यमगीता पर पांडुलिपियाँ उपलब्ध हैं।

इतिहास : इतिहास से सम्बंधित पांडुलिपियों में राजाओं, राणाओं की वंशावलियाँ, संधि-पत्र, बही-खाते, राजस्व सम्बंधी रिकार्ड, राजाओं और देवी देवताओं का प्रशासनिक, धार्मिक, सामाजिक तंत्र सम्बंधी रिकार्ड शामिल है।

दर्शन : चाणक्य नीति सार, न्यायदर्शन, विदुरनीति, शुक्र नीति, राक्षस काव्य जैसी महत्त्वपूर्ण पांडुलिपियाँ भी उपलब्ध हैं।

संगीत : इसके अंतर्गत राग-दर्शन और राग-माला पांडुलिपियाँ पाई गई हैं।

काव्य : इस विषय के अंतर्गत काव्यमुक्तावलि, काव्यदीपिका, बिहारी सतसई सम्बंधी पांडुलिपियाँ पाई जाती हैं।

अन्य विषय : कला, कामशास्त्र, भूगोल से सम्बंधित भी कुछ पांडुलिपियाँ उपलब्ध हैं।

शिमला में अधिकांश पांडुलिपियाँ संस्कृत, हिन्दी तथा यहाँ की स्थानीय बोलियों में लिखित हैं। बहुत-सी पांडुलिपियाँ यहाँ की स्थानीय लिपियों में उपलब्ध हैं। ये लिपियाँ टांकरी, पावुची, पंडवाणी, चंदवाणी, भट्टाक्षरी आदि नाम से प्रचलित हैं। इन लिपियों को विद्वानों ने अन्य लिपियों के प्रभाव में स्वयं विकसित किया था अब इन पांडुलिपियों को पढ़ने-लिखने का ज्ञान कुछ गिने-चुने लोगों के पास ही सुरक्षित रह गया है। इन लिपियों के अलावा यहाँ पर टांकरी लिपि का भी बहुत प्रचलन रहा है। इस लिपि का प्रयोग कुछ-कुछ भिन्नता के साथ प्रदेश के सभी क्षेत्रों में हुआ है, जिसमें स्थानीय भाषा लिखी गई है।

भारत श्रुति व स्मृति का देश रहा है और प्राचीन साहित्य को लिपिबद्ध करने की प्राचीनतम परम्परा की शुरुआत भी इसी देश में हुई है। ये बहुमूल्य धरोहर कहलाती है। लेकिन भारत के परिप्रेक्ष्य में वेदों से लेकर वेदांगों और अन्य धार्मिक व पौराणिक ग्रंथों का अलग महत्त्व है, क्योंकि भारत के प्राचीन ग्रंथों व उनकी टीकाओं में इतना वैज्ञानिक व व्यावहारिक ज्ञान है कि उनसे आज भी हम लाभ उठा सकते हैं और आधुनिक भौतिकवादी युग में व्याप्त समस्याओं का निराकरण इन्हीं प्राचीन ग्रंथों में ढूँढा जा सकता है। इनमें जो भी साहित्य उपलब्ध है, वह जन कल्याण के काम में लाया जा सकता है। जिस भी विषय से सम्बंधित पांडुलिपि हमें मिलती है, उसमें निहित ज्ञान आज के अत्याधुनिक तकनीकी युग में भी प्रासंगिक और उपयोगी है।

हिमाचल प्रदेश के संस्कृत अभिलेख

डॉ. ओम प्रकाश शर्मा

हिमाचल में संस्कृत साहित्य के प्राचीन इतिहास को जानने के लिए यहाँ उपलब्ध अभिलेखों का विशेष महत्त्व है। ये अभिलेख ऐसे मूलभूत स्रोत हैं, जिनके माध्यम से हिमाचल में संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि निर्मित होती है। इन अभिलेखों को लिखवाने की परम्परा हिमाचल में प्राचीन एवं मध्यकाल में प्रारम्भ होती है। ये अभिलेख अनेक अवसरों पर लिखवाए जाते थे और इन्हें लिखवाने के प्रयोजन पृथक्-पृथक् होते थे। कुछ अभिलेख राजाओं, सामन्तों एवं अन्य प्रशासनिक सेवकों के कार्यों तथा उनके चरित्र-चित्रण से सम्बंधित होते थे और कुछ राजाओं की विजय गाथा, मंदिर या स्थान विशेष की स्थापना अथवा जीर्णोद्धार के समय लिखवाए जाते थे। कुछ ऐसे भी अभिलेख उपलब्ध होते हैं, जिनमें ब्राह्मणों को दान के रूप में ग्रामादि दिए जाने का वर्णन है। अन्य विधा के अभिलेखों में मूर्तियों की वेदिका, मंदिरों के द्वारमुखों, जल की बावड़ियों और सिक्कों पर उत्कीर्ण लेखों की परिगणना की जा सकती है। इन अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही साथ ही इनमें प्रयुक्त संस्कृत भाषा, साहित्य और लिपियों के विकास पर भी प्रभूत प्रकाश पड़ता है।

कालक्रम के अनुसार शिलाओं, मंदिरों, मूर्तियों की वेदिकाओं, सिक्कों तथा ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण अभिलेखों में सिक्कों का समय प्राचीन है। कुल्लूत और औदुम्बर गणराज्यों के सिक्के इसके पुष्ट प्रमाण हैं, जिनका काल ई. पू. द्वितीय शताब्दी है। कुल्लूत गणराज्य के एक सिक्के में *'राजानः कुलूतस्य वीरयशः'* लिखा मिलता है। इसमें साहित्यिक शैली जैसी भाषा के विकास के प्रमाण विद्यमान हैं। सिक्कों पर उत्कीर्ण अभिलेखों के उपरान्त मौर्यकालीन पठियार अभिलेख और कुषाणकालीन खनियारा अभिलेख उल्लेखनीय हैं। अन्य उपलब्ध प्राचीन अभिलेखों में गुप्तकालीन सालरू (कुल्लू) अभिलेख, निरमण्ड ताम्रपत्र, चम्बा प्रशस्तियाँ, बैजनाथ प्रशस्तियाँ तथा हाटकोटी अभिलेख हिमाचल में संस्कृत भाषा और साहित्य

के उत्कृष्ट स्रोत हैं। इन अभिलेखों का कालक्रमानुसार वर्णन इस प्रकार है

पठियार अभिलेख : कांगड़ा के पठियार नामक स्थान से यह अभिलेख मिला है। भाषा और लिपि के आधार पर इसका काल ई. पू. द्वितीय शताब्दी बैठता है। यह अभिलेख एक शिला पर उत्कीर्ण है। इस पर सम्राट अशोक की शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी कारण कुछ विद्वानों ने इसे मौर्यकालीन अभिलेख माना है। इस अभिलेख में एक तालाब के निर्माण का उल्लेख है। यद्यपि इस अभिलेख में प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया है, परन्तु यह पूर्णतया संस्कृत मूलक शब्दों से ही प्रभावित है। तथ्यों से यह बात स्पष्ट है कि पंजाब से लगे हिमाचल के क्षेत्रों में उस समय संस्कृत प्रभावित प्राकृत भाषा ही अधिक प्रचलित थी।

खनियारा अभिलेख : धर्मशाला के समीप खनियारा नामक स्थान से उपलब्ध शिला पर उत्कीर्ण एक कुषाणकालीन अभिलेख है। इस अभिलेख में एक बौद्ध विहार के निर्माण का उल्लेख है। इससे तत्कालीन धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। इसमें प्रयुक्त प्राकृत भाषा भी संस्कृत से पूर्णतया प्रभावित है। उन दिनों संस्कृत प्रभावित प्राकृत भाषा का ही अधिक प्रचलन था। अतः इन दोनों अभिलेखों का हिमाचल के संस्कृत साहित्य के प्राचीन स्रोतों में विशेष स्थान है।

सालरू अभिलेख : सालरू, कुल्लू में स्थित महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थल है। यहाँ से भी एक गुप्तकालीन शिलालेख उपलब्ध हुआ है। इसमें एक प्रशासक तथा विजेता का निरूपण है। गद्यात्मक शैली में निबद्ध यह अभिलेख संस्कृत भाषा का अच्छा उदाहरण है। गुप्तकाल तक संस्कृत भाषा परिष्कृत रूप में प्रयुक्त होने लगी थी, यह बात इस अभिलेख से प्रमाणित होती है।

निरमण्ड ताम्रपत्र : कुल्लू के ऐतिहासिक ग्राम निरमण्ड में एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ है, जो हिमाचल के इतिहास के साथ-साथ यहाँ पर उपलब्ध संस्कृत साहित्य का भी एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यद्यपि परम्परा इसे विक्रमादित्य द्वारा प्रदत्त ताम्रपत्र मानती है, परन्तु इस पर गुप्तों का उल्लेख न होने के कारण इसे सत्यापित करना कठिन है। इस ताम्रपत्र में उल्लेख आया है कि महासामन्त महाराजा समुद्रसेन ने शुलिशग्राम और उससे संलग्न जोहड़ भूमि और जंगल के भाग को निरमण्ड के अथर्ववेदीय ब्राह्मणों को अग्रहार के रूप में प्रदान किया था, क्योंकि समुद्रसेन की माता परमदेवी महाभट्टारिका मिहिरलक्ष्मी को कपालेश्वर मंदिर में मिहिरेश्वर की पूजा-अर्चना करनी थी। इस कपालेश्वर मंदिर का निर्माण भी महाराज सर्ववर्मन ने करवाया था

महासामन्त : महाराजाश्री समुद्र सेनयो : जननी श्री मिहिर लक्ष्मया धर्मम् अर्थम् भागवतास्त्रिपुरान्तकस्य लोकालोककारस्य प्रणत अनुकम्पिना सर्वदुःखक्षयकरो कपालेश्वरे ... (8-9) निरमण्ड अग्रहार अथर्वणः वरा (ब्रा) ह्मणाः स्तोभ्य शुलिशग्रामः नवः वेदिलः कर्मम् अन्त वरवालिकः कुटुम्बि (म्बि) णः देवेशः भूमि पर्यन्त..।।

भाषा और शैली के आधार पर डॉ. फ्लीट ने इसका काल 612-13 ई. माना है। यदि तथ्यों का गम्भीरता से विश्लेषण किया जाए तो ताम्रपत्र का यह काल उचित नहीं बैठता है। इसी कारण तिथि पर विद्वानों का मतैक्य नहीं है। इतिहासकारों का मत है कि इस ताम्रपत्र को स्पीति के राजा समुद्रसेन ने प्रदान किया था। स्पीति के राजा राजेन्द्र सेन ने 660 ई. के लगभग कुल्लू राज्य पर आक्रमण किया था। सन् 650 ई. के लगभग कुल्लू के राजा ने स्पीति के राजा चेत सेन को रोहतांग दर्रे पर पराजित किया था। अतः प्रशस्ति पर उल्लिखित राजा समुद्र सेन का काल इससे पूर्व बैठता है। स्पीति के राजाओं की महासामन्त उपाधि सम्भवतः गुप्त सम्राटों के साथ उनके सम्बन्ध की ओर संकेत करती है। ये सामन्त गुप्त साम्राज्य के समय उनके अधीन रहे होंगे। मगध पर जैसे ही गुप्तों का नियन्त्रण ढीला होता गया, इन सामन्तों ने स्वतन्त्र होकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया होगा। अतः चौथी-पाँचवीं शताब्दी ही इस प्रशस्ति का काल बैठता है।

यह प्रशस्ति उत्तम गद्यशैली में लिखी गई है। इसमें कुणिंद और कुलूत गणराज्यों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य उल्लिखित हैं। इसके अतिरिक्त इसमें शैव संस्कृति से सम्बंधित विभिन्न पक्षों के भी दर्शन होते हैं। इस प्रशस्ति में वरुणसेन, संजयसेन, रविसेन, समुद्रसेन आदि शासक महासामन्तों के रूप में उत्कीर्ण हैं, जबकि सर्ववर्मन सेन से पहले महाराजा शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाराजा शब्द गुप्त साम्राज्य के पतन और सर्ववर्मन के स्वतन्त्र शासन की ओर संकेत करता है। इस प्रशस्ति की गद्ययोजना गुप्तकालीन अन्य प्रशस्तियों की तरह ही है।

चम्बा प्रशस्तियाँ : चम्बा जनपद हिमाचल के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखता है। इसका इतिहास, संस्कृति और सामाजिक संरचना बहुत प्राचीन है। अन्तर्साक्ष्य आधारित जितने भी ऐतिहासिक स्रोत यहाँ उपलब्ध हैं, अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। हिमालय की पर्वत शृंखलाओं के अँचल में बसे इस जनपद तक बहुत कम आक्रमणकारी पहुँच पाए। इसी कारण यहाँ की पुरातात्त्विक और सांस्कृतिक विरासत सुरक्षित रही।

संस्कृत भाषा और साहित्य में उपलब्ध प्राचीन सामग्री यहाँ अपना वैशिष्ट्य लिए हुए है। अकेले चम्बा में 130 प्रशस्तियाँ उपलब्ध हैं। मुस्लिम काल से पूर्व की 50 प्रशस्तियों में से 13 प्रशस्तियाँ शुद्ध संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। अन्य प्रशस्तियों में यद्यपि पहाड़ी बोलियों के शब्द मिश्रित हैं, परन्तु इनमें संस्कृत मूलक शब्दों एवं भाषा शैली और साहित्य का पूर्ण प्रभाव है। ये प्रशस्तियाँ हिमाचल के औदुम्बर गणराज्य, चम्बा राज्य की स्थापना, इस क्षेत्र के राजवंशों तथा इस जनपद के इतिहास के सभी पक्षों पर तथ्यपूर्ण सामग्री उपलब्ध करवाती हैं। ये प्रशस्तियाँ ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्त और शारदा लिपियों में उत्कीर्ण हैं। इनकी शैली अधिकतर गद्यात्मक है, परन्तु कुछ में श्रेष्ठ पद्यों का भी समावेश है। यहाँ उपलब्ध प्रशस्तियों में लक्षणा, शक्ति,

गणेश और नन्दी की मूर्तियों पर उत्कीर्ण अभिलेख, मिंधल माता अभिलेख, सराहन प्रशस्ति, भरमौर ताम्रपत्र, कुलैत ताम्रपत्र, चम्बा ताम्रपत्र, पनाली नाला की चार प्रशस्तियाँ, लुजपनघट शिलालेख, सेहली पनघट अभिलेख, मूल-कियार अभिलेख आदि उल्लेखनीय हैं। इन प्रशस्तियों का वर्णन इस प्रकार है

लक्षणा देवी अभिलेख : लक्षणादेवी की मूर्ति महिषासुर मर्दिनी के रूप में है। सूर्यवंशी श्री आदित्य वर्मदेव के प्रपौत्र श्री बल वर्म देव के पौत्र तथा श्री दिवाकर वर्म देव के पुत्र श्री मेरूवर्मा ने पुण्यवृद्धि हेतु लक्षणादेवी की मूर्ति का गुग्गा मिस्त्री से निर्माण करवाया था। यह मूर्ति चम्बा की प्राचीन राजधानी ब्रह्मपुर (भरमौर) में स्थित है। इसी मूर्ति के आधार पर यह अभिलेख उत्कीर्ण है। इस अभिलेख में संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है, जो इस बात का प्रमाण है कि उस समय मेरूवर्मा के राज दरबार में इस भाषा का ही प्रचलन था। यही नहीं मेरू वर्मा के राज्य में संस्कृत भाषा और साहित्य के जानकार विद्वानों का भी आधिक्य था। गुग्गा नामक कारीगर जब धाराप्रवाह रूप से अभिलेख उत्कीर्ण करने में सक्षम था तो राज्य में निश्चय ही संस्कृत भाषा का प्रचलन रहा होगा।

गणेश मूर्ति अभिलेख : गणेश की मूर्ति भी भरमौर में ही स्थित है। मूर्ति की बनावट कमर में बाघचर्म, शरीर में सर्प, तीन आँखें और चार हाथ के रूप में है। सिंहासन के लिए दो सिंह बने हैं। बीच में जहाँ हाथी के कानों वाली आकृति है उसी पर लेख अंकित है। इस मूर्ति को भी गुग्गा ने बड़े सुन्दर ढंग से बनाया है। चार पंक्तियों का जो लेख उत्कीर्ण है, उसमें भी लगभग वही अक्षर मिलते हैं, जो लक्षणादेवी के अभिलेख में हैं। थोड़ा-सा अंतर मिलता है। इसमें सर्वप्रथम गणपति जी को प्रणाम किया गया है। बाकि शब्द मेरू वर्मा के वंश से सम्बन्धित हैं तथा अन्त में पवित्र उपद्वार के निर्माण का निरूपण किया गया है। भाषा संस्कृत ही है।

नन्दी पर उत्कीर्ण लेख : नन्दी की मूर्ति मणिमहेश शिवालय में विद्यमान है। मूर्ति के आधार पर उत्कीर्ण अभिलेख में बड़ी आलंकारिक शैली में देवमंदिर के निर्माण की बात कही गई है। नन्दी की पुष्ट देह, ऊँची कुकुद तथा स्थूल मुख का वर्णन भी आलंकारिक शैली में ही किया गया है। उत्कीर्ण अभिलेख में व्याकरणिक दृष्टि से संस्कृत भाषा में कुछ त्रुटियाँ अवश्य हैं, परन्तु फिर भी जिस शैली का अनुसरण किया गया है वह उल्लेखनीय है।

शक्ति देवी छतराड़ी अभिलेख : शक्ति देवी छतराड़ी की मूर्ति चतुर्भुजी है। देवी की मूर्ति कमल के ऊपर है। कमल की पट्टिका पर ही लेख उत्कीर्ण है। इसमें सर्वगुण सम्पन्न और सर्वशक्तिमान नृप मेरू वर्मा द्वारा अपने माता-पिता की तृप्ति तथा अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त गुग्गा शिल्पी के द्वारा इस मूर्ति का निर्माण करवाने का उल्लेख आया है। यद्यपि इसमें भी व्याकरणिक दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ हैं परन्तु साहित्यिक शैली देखते ही बनती है।

मिंधल माता अभिलेख : चन्द्रभागा नदी के बायें किनारे मिंधल माता मंदिर स्थित है। यहाँ इक्कीस पंक्तियों का एक लेख उपलब्ध हुआ है, जो अब भूरिसिंह संग्रहालय में विद्यमान है। यह अभिलेख साढ़े सात इंच लम्बा और साढ़े दस इंच चौड़ा है। लेख के ऊपर बायें भाग पर 'सही' उत्कीर्ण है। अक्षर देवनागरी के हैं। इस लेख की विशेषता यह है कि इसमें आधी संस्कृत भाषा है और आधी चम्बयाली बोली है। इस लेख का काल वैशाख शुक्ल अष्टमी विक्रमी संवत् 1698 है। वस्तुतः इस काल तक संस्कृत भाषा का प्रचलन कुछ कम होता जा रहा था और स्थानीय बोलियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। अभिलेख की प्रथम नौ पंक्तियाँ संस्कृत भाषा में और शेष बारह पंक्तियाँ चम्बयाली बोली में उल्लिखित हैं

'सही'। ऊँ स्वस्ति श्री गणेशाय नमः। श्री गणेशाय नमः।। श्री मद्विक्रमार्क संवत्सरे 1698 (11.2-4) वैशाख मासे शुक्ल पक्षे तिथौ वष्टम्यां श्री राम राम (1. 5)... श्री पृथ्वी सिंह वर्मण (1.6) पाडी मंडल मध्यतो मिंधलाख्यो ग्रामस्मीमः प्रजा सहितः श्री भग (1.7) वती चामुंडा प्रीतये सम्प्रदत्तस्तदनेन ससांतानेनान चन्द्रसूर्यध्रुव (1.8) ब्रह्मांडस्थिति पर्यंतमुपभुंजनीयो यः कश्चिन्मम वंशयो वा अन्यो (1.9) वापहर्ता स्यात्सदंड्यो बद्धयो नरकपाती स्यात्।। अथ भाषा।। ग्राम।। (1.10) इक मिंधल सीमाये प्रजे समेत श्री चामुण्डा की श्री महाराजे पृ. (1.11) थ्वी सिंह कुलूरे चामुंडाये दे वैशाख प्र. 21 आई पूजी संकल्प करी दित्ता (1.12)

इस लेख में पृथ्वी सिंह द्वारा कुल्लू से आते हुए देवी की पूजा अर्चना करके भूमि दान का उल्लेख है। इस प्रकार यह अभिलेख भी संस्कृत भाषा के प्रभाव का एक अनुपम उदाहरण है।

सराहन प्रशस्ति : मेरू वर्मा के अभिलेखों के उपरान्त सराहन प्रशस्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सराहन साहो गाँव के सामने है। पत्थर की पट्टी के दोनों ओर उत्कीर्ण तथा शेष में यह प्रशस्ति गाँव के पास एक शिवालय में रखी हुई है। इस प्रशस्ति में 22 पद्य शुद्ध संस्कृत में निबद्ध हैं। पहले और अंतिम पद्यों में आर्या, दूसरे और तीसरे पद्यों एवं अन्य पद्यों में उपजाति छन्दों का मनोरम वर्णन किया गया है। व्याकरणिक दृष्टि से भी इस प्रशस्ति में त्रुटियाँ नहीं हैं। इन पद्यों में भोगत पुत्र राजा सात्यकी की रानी सोमप्रभा के सौन्दर्य का आलंकारिक शैली में वर्णन है। अतः यह सराहन प्रशस्ति भी संस्कृत भाषा में निबद्ध एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख है।

भरमौर ताम्रपत्र : चम्बा के शासकों ने ब्राह्मणों को भूमि दान करने के लिए ताम्रपत्रों का प्रयोग किया था। इन ताम्रपत्रों का भी अपना एक विशेष महत्त्व है। चम्बा से उपलब्ध ताम्रपत्रों में सबसे पुराना ताम्रपत्र युगाकर वर्मन का है। इस ताम्रपत्र में युगाकर वर्मन के पिता साहिल वर्मन द्वारा अपनी राजधानी भरमौर से चम्बा स्थापित करने का उल्लेख है। ताम्रपत्र का प्रारम्भ शिव की स्तुति से होता है और इसमें उन्नीस पंक्तियाँ विद्यमान हैं। अभिलेख में उत्कीर्ण ब्रह्मपुर, चम्पक तथा खणी आदि स्थलों

का उल्लेख ऐतिहासिक है। युगाकर वर्मन के माता-पिता साहिल वर्मन और नीना का वर्णन भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि ताम्रपत्र की भाषा अशुद्ध है, परन्तु अधिकतर पंक्तियाँ संस्कृत में ही उल्लिखित हैं जो संस्कृत भाषा और साहित्य की परम्परा का निर्वहण किए हुए हैं।

कुलैत ताम्रपत्र : कुलैत ताम्रपत्र राजा सोम वर्मा द्वारा दान की गई भूमि से सम्बंधित है। इस ताम्रपत्र में सीधी चौबीस पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं। ताम्रपत्र का प्रारम्भ पुष्पिताग्रा छन्द से होता है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन देवों की स्तुति की गई है। इस ताम्रपत्र में सोम वर्मा द्वारा डूगर के राजा के कीर सैन्यदल तथा उसके सहयोगी त्रिगर्त नरेश के सैन्यदल को पराजित कर विजय प्राप्त करने का उल्लेख आया है। इस ताम्रपत्र के रचयिता ने क्लिष्ट गद्यशैली का प्रयोग किया है। एक उदाहरण से इस बात की पुष्टि होती है

परममाहेश्वरः परमवैष्णवः परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीमत्सालवाहन देव पादानुध्यात प (1.19) रम भट्टारिका महाराज्ञी श्री रढ़ा देवी कुक्षि क्षीरनीरनिधि सुधा दीधिति परमभट्टार महाराजाधिराज परमेश्वर श्री मत्सोमवर्मदेव कुशली स्व. सा (शा) स्यमान त्रिघट्टक मण्डल प्रतिबद्ध। कुलिक गोष्ठे रङ्क सुत रणादित्य सत्क एतत्पुत्र उद्गम (1.21)

अभिलेख के उत्कीर्णन में भले ही कुछ त्रुटियाँ झलकती हैं परन्तु फिर भी इसका गद्यनियोजन उल्लेखनीय है।

चम्बा ताम्रपत्र : यह ताम्रपत्र चम्बा के हरिराय और चम्पावती मंदिरों से सम्बन्धित है। इस अभिलेख में बत्तीस पंक्तियाँ हैं। इससे सोम वर्मा के राज्य से सम्बंधित विभिन्न पक्षों का पता चलता है। अभिलेख से सामन्त अषाढ़ द्वारा एक शिवालय के निर्माण की भी जानकारी उपलब्ध होती है। यह अभिलेख गद्यशैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अभिलेख में कुछ छन्दोबद्ध पद्य भी हैं। प्रारम्भ के दो पद्य पुष्पिताग्रा और मालिनी छन्दों में, मध्य का एक पद्य शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में एवं अंतिम चार पद्य अनुष्टुप छन्द में हैं। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह ताम्रपत्र विशेष महत्त्व रखता है। इसमें चम्बा राजवंश के प्रथम पुरुष मूशून या मोशून के अतिरिक्त मेरूवर्मा के पिता दिवाकर वर्मा, साहिलदेव, सालवाहनदेव तथा सोमवर्मदेव आदि ऐतिहासिक राजाओं के विषय में तथ्यपूर्ण जानकारी मिलती है

निर्मले कुले तिल (1.11) क भूतः निरवद्य विद्याविनोद रस रसिकः असे (शे) ष सा (शा) स्त्रार्थ परिमलाधिवासित मानसः विवेकैके सरो राजहंसः अगणित विमल गुण गणालंङ्घः (1.12) त मूर्ति त्रिभुवन भवन विछु (च्छु) रित कीर्तिः परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेस्व (श्व) र श्रीमत्सालवाहन देव पादानुध्यातः परमभट्टारिका महाराजो श्री रढा (1.13) देवी... ।।

पनाली नाला की चार प्रशस्तियाँ : ताम्रपत्रों के उपरांत चम्बा में धाराओं, कुण्डों

और झरनों के ऊपर लिखे अभिलेख भी मिले हैं। लिल्ह परगने के गुणगाँव के पास पनाली नाला की चार प्रस्तर प्रशस्तियाँ सबसे प्राचीन हैं। इनमें चम्बा राजवंश के कई पक्ष उजागर होते हैं। इसके साथ ही उत्तर भारत में शैवधर्म के प्रसार का भी पता चलता है। प्राचीन काल से शिव की यहाँ अधिष्ठित देव के रूप में मान्यता थी। पनाली नाला में प्राप्त इन चार प्रशस्तियों का शुभारम्भ ही 'ओं नमः शिवाय' से होता है, जो इस परम्परा की पुष्टि करता है। इन प्रशस्तियों में भी संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है।

लुज पनघट शिलालेख : पांगी के धरवास क्षेत्र के निकट लुज गाँव का पनघट शिलालेख चार फुट ऊँची और छह फुट चौड़ी शिला पर उत्कीर्ण है। शिला के एक ओर गणेश और वरुणदेव की मूर्तियाँ हैं। इस अभिलेख में पाँच पंक्तियाँ पूर्ण तथा एक छोटी पंक्ति भी है। भाषा संस्कृत परंतु अशुद्ध है

ओं स्वस्तिः। सं. 8। श्री महाराजा जासठ प्रथमवर्ष (1.2) थापित। तत्र काले भाटलौ भटगिरि सुत। नागरा। म (1.3) हापुजा। पलौकार्थ वरुणदेव थापितं। इदं भोग्या नाना भो (1.4) कण समुत्पन्या पोशमासे थापितं इति शुभम्।।

यह अभिलेख 'भाटलौ' व 'भटगिरी' के पुत्र नागरा द्वारा बनवाया गया था और इससे जासठ राजा के राज्याभिषेक की तिथि का भी पता चलता है।

सेहली पनघट अभिलेख : साच से लगभग दस किलोमीटर की दूरी पर सेहली (पांगी) का पनघट शिलालेख उपलब्ध अभिलेखों में सबसे बड़ा है। इस की ऊँचाई छह फुट छह इंच और चौड़ाई सात फुट है। इसमें तीन पंक्तियों में आकर्षक मुद्राओं में मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। सबसे ऊपर की पंक्ति में उत्कीर्ण मूर्तियाँ चार भुजाओं वाली हैं। देवताओं के वाहन चरणों में खुदे हैं। प्रथम पंक्ति में सबसे पहले गणेश तथा अंत में कार्तिकेय की मूर्ति है।

अभिलेख के बीच में नन्दी पर शिव हैं। उनके दोनों ओर लोकपाल वरुण एवं देवराज इन्द्र हैं। वरुण घोड़े पर विराजमान है। सभी देवता अपने-अपने प्रतीक चिह्नों के साथ उत्कीर्ण हैं। दूसरी पंक्ति में विष्णु की मूर्ति है, जो तीन मुखी है। चतुर्भुजी विष्णु के हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म विद्यमान हैं। विष्णु के दोनों ओर दो-दो नारी प्रतिमाएँ हैं तथा साथ ही गंगा, यमुना आदि नदी-देवियों की मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। अभिलेख से ललित वर्मन के राज्यकाल का भी पता चलता है। तथ्यों के आधार पर इसका काल 1170 ई. बैठता है।

नमस्याकाल कालदेह महातुः अपान देह पीठायः सिवाम व्यक्तिसुत्तमः परम भ (1.2) ट्टारक महाराज परमेश्वर श्री मल्ललित वर्मदेव विजय राज्येः संवत् 27 शास्त्रीय संवत् 49 श्राशुति 13 रविदिनेः मल नक्षत्रेः तिथि त्रयोदश्यां पाङत्याम् शेगाण श्री कालुक वर्तमानेः प्रतिहार श्री नेणुकः दण्डवासिकश्छिकुतुकः कोष्ठिक सत्क सेगाण शिरिकः सल्हि वासित राजानक महा श्री लुद्रपाल सत्क (1.3) मर्या।

इस अभिलेख में प्रयुक्त संस्कृत भाषा व्याकरणिक दृष्टि से पूर्णतया अशुद्ध है परन्तु फिर भी संस्कृत भाषा के प्रसार तथा प्रभाव को सहज ही द्योतित करती है। अभिलेख में उल्लिखित शेगाण, नेणुक, दण्डवासिक, कुतुक और सेगाण शिरिक आदि नाम तिब्बती मूल के हैं।

मूल कियार अभिलेख : मूल कियार का धाराशिला अभिलेख अशुद्ध संस्कृत गद्यशैली का है। यह अभिलेख राजा गयपाल से सम्बंधित है, जिसने कश्मीर के साथ अच्छे सम्बंध स्थापित किए थे। गयपाल ने अपनी पत्नी की स्मृति में यह अभिलेख बनवाया था। संस्कृत भाषा और साहित्य के लिए यह शिलालेख विशेष उपयोगी है।

इन अभिलेखों के अतिरिक्त देवीकोठी अभिलेख तथा मुस्लिम काल के ताम्रपत्रों का निरूपण भी प्रासंगिक है। देवीकोठी अभिलेख शुद्ध संस्कृत में निबद्ध है तथा इसका काल 1160 ई. है। इस अभिलेख को राजगुरू कमल लांछन ने रचा था। मुस्लिम काल के अभिलेखों में यद्यपि शुद्ध संस्कृत का प्रयोग नहीं हुआ है, परन्तु फिर भी संस्कृत भाषा और साहित्य के लिए इनकी उपयोगिता कम नहीं आंकी जा सकती। इनकी शैली में भी साहित्यिक गुण विद्यमान हैं, जो उस समय के संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रसार की ओर संकेत करते हैं। चम्बा की सभी प्रशस्तियाँ इस जनपद के क्रमबद्ध इतिहास के लिए तथ्यपरक हैं। इनमें धार्मिक स्थलों की भी महत्त्वपूर्ण जानकारी है। उस समय इन्हीं स्थलों ने संस्कृत भाषा और साहित्य को संरक्षण प्रदान किया था।

बैजनाथ प्रशस्तियाँ : बैजनाथ हिमाचल का एक ऐतिहासिक ग्राम है। त्रिगर्त जनपद का यह ग्राम सांस्कृतिक दृष्टि से विशिष्ट है। इस ग्राम का प्राचीन नाम कीर था। यहाँ स्थित वैद्यनाथ मंदिर में संस्कृत भाषा में निबद्ध दो शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। पहला अभिलेख शकाब्द 726 या सन् 804 ई. का है।

बारहवीं शताब्दी में कीरग्राम का राणा लक्ष्मण चन्द्र का सामन्त था। उसने यहाँ एक किले का निर्माण करवाया था। शिलालेख में वर्णन आया है कि लक्ष्मण चन्द्र के पूर्वज आठ पीढ़ियों से यहाँ रह रहे थे तथा त्रिगर्त राजाओं के सामन्त थे

यस्य प्रेयस्य भवन्मय तल्ले (त्य) तुलरूप भूद्रमणी।
तस्मिन् कीर ग्रामं लक्ष्मण चन्द्रे नृपालयति।।22।।
सिद्धाख्य वणिक पुत्रौ धर्म प्रवणाविह स्थितौ कृतिनौ।
(ज्ये) ष्ठो मन्युकनामा कनिष्टमप्याहुकं प्राहुः।।23।।
ताभ्यां शिवलिङमिदं निरालयं वीकष्य वैद्यनाथाख्यम्।
पुर्या सहितं विहितं पुरतोस्थ च मण्डपो रचित(:) ।।25।।

बैजनाथ वस्तुतः संस्कृत का वैद्यनाथ है, जो शिव के बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक है। इस मंदिर के लिए प्रभूत धनराशि राजानक लक्षमण ने नहीं अपितु प्रसिद्ध सौदागर मन्युक और आहुक ने खर्च की थी। इन दोनों प्रशस्तियों में सौदागरों की

चार पीढ़ियों के साथ-साथ कन्द के पुत्र बुद्ध, उद्दूर, विग्रह, ब्रह्म, डोम्बक, भुवल आदि शासकों का भी उल्लेख आया है। जिस समय ये शिलालेख उत्कीर्ण हुए उस समय जलंधर या त्रिगर्त पर जयचन्द नामक राजा का शासन था। जलंधर की राजधानी सुशर्मपुर का भी इनमें उल्लेख आया है

देवद्विजगुरू भक्त सौजन्य निधिर्गुणप्रियो दाता।

आसुकसुतोस्ति विप्रो रल्हण नामा सुशर्मपुरे।।

इन अभिलेखों में त्रिगर्त राज्य के तिब्बत के साथ व्यापारिक सम्बंधों की भी जानकारी उपलब्ध होती है। कीरग्राम नामकरण यहाँ पर बसी कीर जाति की ओर संकेत करता है। कीर वस्तुतः किरात जाति का ही नामान्तर है। इन प्रशस्तियों का रचयिता कश्मीर के विद्वान भृंगक का पुत्र राम है। बैजनाथ प्रशस्तियाँ संस्कृत की अच्छी रचनाएँ मानी जा सकती हैं।

ये अभिलेख हिमाचल संस्कृत साहित्य के प्राचीन स्रोतों के रूप में देखे जा सकते हैं। इन अभिलेखों की भाषा-शैली गद्य एवं पद्य दोनों रूपों में है। निरमण्ड प्रशस्ति गद्यात्मक शैली का सुन्दर उदाहरण है तथा चम्बा और बैजनाथ प्रशस्तियों की गणना पद्यात्मक शैली में की जा सकती है। साहित्यिक दृष्टि से प्रसंगानुकूल कथावस्तु, मनोरम शब्द नियोजन, गुण, रीति और अंलकारों का सुन्दर चित्रण, छन्दों का उचित आधान इन अभिलेखों में विद्यमान है, जिनसे हिमाचल बनने से पूर्व यहाँ संस्कृत साहित्य के प्रसार का पता चलता है। इन अभिलेखों की तुलना यदि संस्कृत के किसी खण्डकाव्य से की जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। अतः हिमाचल संस्कृत साहित्य की जानकारी के लिए ये अभिलेख महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

संदर्भ

1. फ्लीट, जॉन.एफ.एफ : कापर्स इन्सक्रिप्शनम् इण्डिक्रम वॉ. III., इन्सक्रिप्शन्स ऑफ द अर्ली गुप्ता किंग्स एण्ड देयर सक्सैसस्ज़ इण्डॉलोजिकल, बुक हॉऊस, एण्टीक्यूरीयन बुक सैलर्स एण्ड पब्लिशर्स, वाराणसी, 1970.
2. मियां गोवर्धन सिंह : हिमाचल प्रदेश का इतिहास, रिलायेन्स पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली 1996.
3. फोगल, जे.पी.एफ. ऐन्टीक्वीटी ऑफ चम्बा स्टेट, पार्ट-1, ए. एस.आई.न्यू इम्पीरियल सिरीज, वा. XXXVI कलकता. 1911.
4. सांकृत्यायन राहुल : हिमाचल खण्ड : एक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994.

कांगड़ा-चम्बा की पांडुलिपियों में आर्येतर शब्द

सोम दत्त शर्मा

पांडुलिपियों का साधारण अर्थ है हस्तलिखित प्रमाण। उर्दू-फारसी भाषा में दस्तावेज़ और अंग्रेज़ी में ड्राफ्ट या डीड। परंतु क्या ऐसे सब पुराने दस्तावेज़ों या हस्तलिखित सामग्री को, जो भूर्जपत्र, कागज़, लकड़ी की तख्ती, धातुपत्रों या फिर शिला-तल पर उकेरित हो,पांडुलिपियाँ कह सकते हैं?

डॉ. हरदेव बाहरी के अंग्रेज़ी-हिन्दी शब्दकोश में मैन्यूस्क्रिप्ट का अर्थ ड्राफ्ट या डीड ही है और पांडुलिपि को अंग्रेज़ी में मैन्यूस्क्रिप्ट ही कहा जाता है। इस प्रकार प्रायः भूर्जपत्र, ताड़पत्र, कागज़, कपड़े या चर्मपट्टिकाओं पर लिखे दस्तावेज़ों को ही पांडुलिपियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह भी शोध का विषय है, परंतु दस्तावेज़ों को पांडुलिपियों में लेना उचित रहेगा। पांडुलिपि दो शब्दों का योग है, पांडु+लिपि। पांडु शब्द संस्कृत की पंड् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है पीत अथवा श्वेत। *शतपथ ब्राह्मण* तथा *महाभारत* में इस शब्द को पढ़ा जा सकता है, जो उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। पांडुलिपि का निर्वचन निम्न प्रकार से होगा *'पांडुपत्रेषु पीतभूतेषु पत्रेषु लिप्ता रिप्ता वा इति पांडुलिपिः'* अर्थात् पुराने होने के कारण पीले पड़े हुए पत्रों पर लिखे दस्तावेज़ ही पाण्डुलिपियाँ कहलाएँगी न कि धातुपत्रों या शिलातलों पर लिखे दस्तावेज़।

महर्षि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी के 3.1.138 पर लिवि या लिम्पि धातुएँ लिखने के अर्थ में मिलती हैं, जो लिप् या रिप् पोतने अर्थ में आई हैं। लेटिन में लिप् धातु के समकक्ष लिप्पस्, लिथुआनियन में लिपति, जर्मन और गाथिक में विलिविन तथा ऐंग्लो सैक्शन में लिब्बन शब्द लिखने के अर्थ में आए हैं, क्योंकि ये सभी भाषाएँ भारोपीय परिवार की हैं, जो प्राचीन वैदिक संस्कृत से ही निकली हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वृक्षों के पत्तों व छालों, कागज़ों तथा चर्मादि पर लिखे गए शब्दरूपी दस्तावेज़ ही पांडुलिपियाँ हैं।

महर्षि पाणिनि ने ई. पू. 8वीं सदी में तत्सम और तद्भव अथवा संस्कृत भव शब्दों का उल्लेख अष्टाध्यायी में किया है। तत्सम शब्द जैसे जल और नीर आदि और तद्भव जैसे खर्जून से खजूर, अग्र से अग्ग, यक्ष से यक्ख, चक्री से चक्की और भार्या से भारजा आदि। परंतु कुछ ऐसे शब्द भी हैं, जो न तो तत्सम हैं और न ही तद्भव जैसे विट्ट शब्द पुत्र अर्थ में, अल्लट-पल्लट शब्द पार्श्व परिवर्तन अर्थ में तथा आल अल्पस्रोत, उडिदो माष अर्थ में प्रयुक्त होते आ रहे हैं। वस्तुतः ये शब्द न तो वैदिक संस्कृत से हैं और न ही लौकिक या प्राकृत से। यहाँ तक कि ये शब्द भारोपीय परिवार की भाषाओं से भी नहीं हैं। ऐसे कई शब्द कांगड़ा व चम्बा की पांडुलिपियों में पाए जाते हैं, जो आर्येतर हैं। आर्य सप्तसिंधु या पंचनद प्रदेश में कहाँ से आए, कब आए, यह हमारा विषय नहीं है; परंतु आर्यों के प्रदेश में संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से पालि, पालि से अपभ्रंश और अपभ्रंश से स्थानीय बोलियाँ तो बनीं, परंतु इनमें कुछ ऐसे शब्द भी प्राप्य हैं, जो संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के नहीं हैं। यही आर्येतर या कहें देशज शब्द हैं, जिन्हें हम सभी प्रतिदिन बोलते भी हैं और बोलते रहे हैं, जो स्थानीय पांडुलिपियों में विद्यमान हैं।

पांडुलिपियों का काल वस्तुतः प्रिंटिंग प्रेस या टाईप रायटर के निर्माण एवं प्रयोग में आने से पहले का माना जाता है, क्योंकि इन से पहले सभी दस्तावेज़ हाथ से ही लिखे जाते थे। यह काल आदिकाल से 19वीं सदी के मध्य तक का माना जाता है। उस समय कांगड़ा वर्तमान स्वरूप में न होकर काफी विस्तृत था और कांगड़ा में कई छोटी-बड़ी रियासतें थीं। इन रियासतों के आश्रय में या स्वतन्त्र रूप में कई पंडित, वैद्य, कवि और सेठ-साहूकार हुए हैं।

प्राचीन काल से ही इन राज-पंडितों, राज-ज्योतिषियों, राजवैद्यों और राज-कवियों या स्वतन्त्र विद्वानों ने कर्मकांड, ज्योतिष, वैद्यक विषयों तथा वीरों की वीरता की प्रशंसा में संस्कृत, ब्रज भाषा, उर्दू-फारसी तथा स्थानीय कांगड़ा व चम्बा की बोलियों में कई ग्रन्थ लिखे, जिनकी लिपियाँ भी अलग-अलग हैं, जैसे टांकरी, शराफी, शारदा, गुरुमुखी, देवनागरी तथा पारसी-फारसी आदि।

उपर्युक्त विषयों पर लिखित पांडुलिपियों में से ज्योतिष या कर्मकांड की पांडुलिपियाँ, मूलरूप में शारदा या देवनागरी लिपि में हैं, परंतु उनके भाष्य या टीकाएँ कांगड़ी या चम्बयाली में मिलती हैं। इनमें शीघ्रबोध, विवाह पद्धति, अनंत चतुर्दशी, यज्ञोपवीत संस्कार-विधि, चतुर्वार्षिक श्राद्ध पद्धति आदि अनेक ग्रंथ हैं, जिनकी टीकाओं या भाष्यों में कई देशज शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जैसे टोकरी के लिए डल्ल, शाखा के लिए डाली, चावल के लिए चाऊल (वैसे चावल के लिए संस्कृत शब्द तण्डुल है) पीतल घट के लिए गागर (सं. गर्गरः) तथा तिलक के लिए टिक्का आदि। इसी प्रकार ज्योतिष से सम्बंधित पांडुलिपियों की टीकाओं में निम्नलिखित शब्द पाए जाते हैं, जैसे ग्रैर कम्बूल, कुत्थ, दुरत्थ, मुथशिल, ईसराफ, तस्बीर आदि। ये शब्द

संस्कृत या भारोपीय न होकर अरबी, कज़ाक और तज़ाक आदि भाषाओं के हैं। इसी प्रकार इस भूखंड में अनेकानेक वैद्यक ग्रंथों की पांडुलिपियाँ भी हैं, जिनमें *वैद्यक विनोद, रामदंडक, पथ्यापथ्य* और *जोगसत* आदि हैं। मुझे *जोगसत* और *पथ्यापथ्य* की प्रतियाँ लदोड़ी गाँव से प्राप्त हुईं, जो मियां बालो रूघियाल द्वारा लिखी गई हैं। इनमें झाड़ी यानी गुल्म शब्द के लिए जाड़ी, त्रपु के लिए रंग अर्थात् रांगा (सं.), मालिश के लिए चोप्पड, पारे के लिए सीमाव, चाँदी के लिए नुकरा, सत्त्व के लिए रोग़न, तूल के लिए रू अर्थात् रुई आदि कई शब्द आर्येतर हैं।

इसी प्रकार राजाश्रित कवियों एवं विद्वानों द्वारा लिखित पांडुलिपियों में प्रशस्तियाँ, पत्र व्यवहार, अहदनामे आदि आते हैं, जो कांगड़ी, चम्बयाली बोलियों में तथा कुछ उर्दू-फारसी में लिखित हैं। इनमें अनेक विदेशी शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे पत्र के लिए परवाना, स्मृति के लिए सनद, छोटी बस्ती के लिए बस्तियाँ, दीवार में बने छोटे स्थान के लिए ताक, निर्माण के लिए तामीर, प्रतिभूति के लिए ज़मानत, सेना के लिए लश्कर, भाड़े के लिए किराया, लगान के लिए ख़राज़, कुलगोत्र के लिए नस्ल आदि। हालाँकि इनमें कुछ शब्द फारसी के भी आ गए हैं, जबकि फारसी को हम आर्येतर भाषा नहीं मान सकते और न ही मानना चाहिए। पुरानी फारसी और पहलवी भाषाएँ आर्य भाषाएँ ही हैं। इसी प्रकार इन पांडुलिपियों में तुर्की भाषा के भी कई शब्द हैं, जो आर्येतर ही हैं जैसे जम्बूर और शुतरनाल आदि शब्द, जो तोप के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

इसी प्रकार भूमि के लेन-देन आदि से सम्बंधित पांडुलिपियाँ, जो मुख्यतया टांकरी, उर्दू-फारसी या देवनागरी लिपि में हैं, उनकी भाषा स्थानीय कांगड़ी या चम्बयाली उपबोलियाँ हैं। इनमें भी कुछ देशज शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे जलस्रोत के लिए दलि (सुदली), द्रुमहीन पर्वतीय ढलान के लिए फाट, दलदली भूमि में एक जगह इकट्ठे जल के लिए डिब्बर, सिंचाई साधनों से रहित भूमि के लिए ओतड़, घासवाली समतल भूमि के लिए दब्बड़, समतल भूमि के लिए पद्दरा। उपरोक्त शब्द न तो अरबी, तुर्की या भारोपीय परिवार के हैं और न ही भोट या मंगोल भाषाओं के, अपितु ये वे शब्द हैं, जो चम्बयाली या कांगड़ी में विद्यमान हैं।

कांगड़ा, चम्बा क्षेत्र के कई पुजारी, वैद्य और राजघरानों में अभी भी हज़ारों पांडुलिपियाँ विद्यमान हैं, जिनमें आर्येतर शब्दों का भंडार है। इन पांडुलिपियों को प्राप्त कर वैज्ञानिक ढंग से उन्हें संरक्षित किया जाना आवश्यक है।

पुरातात्त्विक अध्ययन : चैतड़ू गाँव

रमेश चंद्र

पुरातत्त्व मानव समाज की प्राचीन सभ्यता का अध्ययन है। पुरातत्त्व विज्ञान द्वारा मानव समाज के अतीत की व्याख्या उससे सम्बंधित पुरावशेषों के आधार पर की जाती है। भूकंप या अन्य अज्ञात भौगोलिक कारणों से सभ्यताएँ नष्ट हो जाती हैं। उससे सम्बंधित वस्तुएँ भी साथ ही दब जाती हैं, लेकिन कुछ चिह्न या अवशेष धरती की सतह पर विद्यमान रह जाते हैं, जो पुराविदों को संदेश देते हैं कि यहाँ पृथ्वी के गर्भ में सांस्कृतिक धरोहर दबी पड़ी है।

मानव जीवन निरंतर परिवर्तन के दौर से गुज़र रहा है, इसलिए हम अपने अतीत को समझना चाहते हैं, ताकि जान सकें कि वर्तमान स्थिति तक हम कैसे पहुँचे? हमारी सभ्यता किन-किन सीढ़ियों का सहारा ले कर इतनी विकसित हुई है? हम अपनी प्राचीन सभ्यताओं से क्या-क्या सीख सकते हैं? एक तरह से हम अतीत और वर्तमान का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहते हैं। लेकिन यह जानकारी केवल लिखित इतिहास से संभव नहीं है।

अब यह मान लिया गया है कि जब से किसी सभ्यता के लिखित प्रमाण मिलते हैं, तभी से युग का इतिहास आरंभ होता है। वैसे मनुष्य द्वारा लिखित वृत्तांत 270 ईसा पूर्व सम्राट अशोक के शिलालेखों से माना गया है। 326 ईसा पूर्व सिकंदर के आक्रमण का वृत्तांत, चौथी शताब्दी ईसा पूर्व चाणक्य का अर्थशास्त्र और छठी शताब्दी ईसा पूर्व बौद्ध साहित्य को भी शामिल कर लिया जाए, तब हमारा ऐतिहासिक युग छठी शताब्दी ईसा पूर्व अर्थात् आज से लगभग दो हज़ार, छह सौ वर्ष पहले जा कर रुक जाता है।

वस्तुतः हमारी सभ्यता की कहानी लगभग बीस लाख वर्ष पुरानी है, क्योंकि इसका आरंभ इस धरती पर मानव के प्रादुर्भाव के साथ हो गया था। आज से बीस लाख वर्ष पूर्व पाषाण युग का आरंभ हुआ था। ऐतिहासिक युग से पहले की सभ्यता,

जिसे हम प्रागैतिहासिक युगीन सभ्यता कहते हैं, उसे जानने के लिए ज्ञान-विज्ञान की जिस शाखा का सहारा लिया जाता है, उसे पुरातत्त्व और इस शाखा के विद्वानों को पुरातत्त्ववेत्ता, पुराविद् या खुदाईकार कहते हैं।

पुरातत्त्व के अंतर्गत भौतिक जगत् में घटित उन सभी परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है, जिनका कर्ता मनुष्य रहा हो। मानव द्वारा प्राप्त अवशेषों को हस्तकृतियों की संज्ञा दी गई है और इन्हें दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है एक 'चल अवशेष' और दूसरा 'अचल अवशेष'। मिट्टी के बर्तन, पत्थर के औज़ार, मूर्तियाँ, सिक्के इत्यादि चल अवशेष और भवन, पूजागृह, क़ब्र, समाधि, क़िले, नहर इत्यादि अचल अवशेष की श्रेणी में आते हैं। इन्हीं प्राचीन अवशेषों के आधार पर पुरातत्त्ववेत्ता लुप्त अथवा अज्ञात सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

विद्वान लेखकों के विवरण भी कहीं उत्खनन कार्य का आधार बनते हैं। धरती की परतों में छिपी मनुष्य के इतिहास की अनेक गुत्थियों का पता पुरातत्त्व के रोमांचकारी वैज्ञानिक उत्खनन द्वारा लगाया जाता है।

हिमाचल प्रदेश के ज़िला कांगड़ा में तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से छठी शताब्दी तक बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव रहा है, जिसके प्रमाण गाँव खनियारा व पठियार क्षेत्र से मिले शिलालेखों में भी मिलते हैं, जो प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में अंकित किए गए हैं। ये शिलालेख कांगड़ा क्षेत्र में बौद्ध विहार होने के संकेत देते हैं। सातवीं शताब्दी में राजा हर्षवर्धन के काल में चीनी विद्वान् यात्री ह्वेन्त्सांग भारत आया था। कुल्लूत देश यानी कुल्लू जाते हुए वह तमस वन भी गया था। तमस वन की पहचान कांगड़ा नगर के समीप किसी स्थल के रूप में की गई है। चीनी यात्री ने अपने यात्रा वर्णन में जालंधर क्षेत्र (कांगड़ा क्षेत्र का प्राचीन नाम) में पचास बौद्ध विहारों के अस्तित्व का उल्लेख किया है। उल्लेखनीय है कि भूरि सिंह संग्रहालय चम्बा में संगृहीत जालंधर पीठ दीपिका नामक पांडुलिपि में भी कांगड़ा के लिए जालंधर नाम आया है।

चंडीगढ़ सर्कल के भारतीय पुरातत्त्व विभाग और हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग के संयुक्त तत्त्वाधान में सर्कल और विभाग के संयुक्त पुरातत्त्व दल द्वारा हिमाचल के चैतड़ू स्थल व द्रौपदी बाग़ में पुरातात्त्विक उत्खनन करवाया गया। चैतड़ू चैत्य शब्द का अपभ्रंश है। 'चैत्य' बौद्ध धर्म के अनुयायियों के पूजा-गृह कहलाते थे। संभवतः चैत्य से चैतड़ू गाँव का नाम पड़ा हो। पुराविदों को चैतड़ू में बौद्ध विहार परिसर व अशोक प्रस्तर स्तंभ मिलने की सम्भावना है। आरंभ में चार खाइयाँ खोद कर कार्य आरंभ किया गया, जो आधार खाई कहलाई। क़रीब एक मीटर की गहराई पर पक्की मिट्टी की ईंटों से बना किसी इमारत का महत्त्वपूर्ण गोल ढाँचा प्राप्त हुआ है। इस ढाँचे के विस्तार को जानने के लिए कुछ और खाइयाँ खोदी गईं।

उनमें भी वैसा ढाँचा मिला। इसमें समीप ही बहती खड्ड माँझी में उपलब्ध गोल पत्थरों का प्रयोग भी मिला है। यह ढाँचा उस समय के बौद्ध स्तूप होने का संकेत देता है, जिसमें मिश्रित रूप से पक्की ईंटों और पत्थरों का प्रयोग किया गया है। पुरातात्त्विक उत्खनन सीधी खड़ी दीवारों के आधार पर किया गया है।

चैतड़ू के भीमटीला स्थल पर उत्खनन के दौरान प्राप्त अवशेषों में मिट्टी के बने गोल मनके, ताँबे की चूड़ियाँ, मिट्टी की मानव व पशु आकृतियाँ, संभवतः पाशा व टैराकोटा निर्मित चौकोर फलक तथा कलाकृतियाँ हैं। उत्खनन से प्राप्त कला-वस्तुएँ उस जाति की आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं पर प्रकाश डालती हैं। राख और कोयले के अंश भी खुदाई में प्राप्त हुए हैं। उत्खनन में जहाँ कोयला और राख निकलती है, वहाँ चूल्हा मिलने की सम्भावना बराबर बनी रहती है। ये गुफ़ा और घर के कोने में या उसके सामने की खुली जगह में मिलते हैं।

मिट्टी की विभिन्न परतें पृथ्वी के इतिहास के अलग-अलग कालों की सूचक होती हैं। पुराविदों का प्राकृतिक मिट्टी तक पहुँचने का लक्ष्य होता है, जिससे उसी स्थल पर घटित सम्पूर्ण क्रिया-कलापों की जानकारी मिलती है। भीमटीला स्थल के उत्खनन में ही चौथी परत से धूसर रंग के मिट्टी के पात्र प्राप्त हुए हैं, जिनसे इस बात की सम्भावना बढ़ी है कि अंतिम चरण तक की खुदाई पर यहाँ से चित्रित मृण्पात्र भी प्राप्त हो सकते हैं। यदि इनकी प्राप्ति के स्पष्ट प्रमाण मिल जाते हैं तो चैतड़ू स्थल को आज से तीन हज़ार वर्ष प्राचीन कहा जा सकेगा। चित्रित मृण्पात्र का काल 1000 ई. पू. का है, परंतु यह निर्धारण आगामी उत्खनन पर निर्भर करेगा। चित्रित मृण्पात्र महाभारतकालीन स्थलों, हस्तिनापुर और कुरुक्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। यदि यहाँ भी ऐसे पात्रों या अंशों के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, तो हम चैतड़ू स्थल को भी महाभारतकालीन स्थल कह सकेंगे।

द्रोपदी बाग़

भीमटीले के साथ लगते द्रोपदी बाग़ की अपनी विशेषताएँ हैं। वास्तव में द्रोपदी बाग़ भी भीमटीले का हिस्सा रहा है। एक कुल्या, जो बाद में बनाई गई है, बाग़ को टीले से अलग करती है। यह क्षेत्र भीमटीले के समकालीन प्रतीत होता है। यहाँ भी बौद्ध सभ्यता व संस्कृति का विस्तार जानने व भीमटीला के अवशेषों के साथ तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से चार खाइयाँ खोदी गईं, जो सी एच आर 2 कहलाईं। द्रोपदी बाग़ में मिट्टी की पक्की ईंटें व उनके अंश बिखरे पड़े हैं, जो भीमटीला के अवशेषों की समानता लिए हुए हैं। सन् 1920 में इस क्षेत्र में गग्गल-धर्मशाला सड़क के निर्माण के समय तीन बौद्ध प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थीं, जिनमें से एक बौद्ध प्रतिमा पाकिस्तान के लाहौर संग्रहालय, दूसरी प्रतिमा ब्रिटिश संग्रहालय व तीसरी आज के द्रोपदी बाग़ में विद्यमान है। ये प्रतिमाएँ इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि चैतड़ू क्षेत्र कभी बौद्ध धर्म की गतिविधियों का केंद्र रहा है और यह बाग़ चैतड़ू क्षेत्र का ही हिस्सा

है। स्थानीय लोग इसे महाभारत काल से भी जोड़ते हैं। द्रोपदी बाग़ की बौद्ध प्रतिमा को द्रोपदी की मूर्ति के रूप में पूजते हैं, परंतु मूर्ति-लक्षण की दृष्टि से द्रोपदी बाग़ की प्रतिमा बौद्ध प्रतिमा है, स्त्री आकृति नहीं है। चैतड़ू स्थल से प्राप्त हुई 36 x 23 x 7 मीटर मिट्टी की पक्की ईंटों का आकार कुषाणकालीन है। प्रतीत होता है कि प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में यह क्षेत्र कुषाणकालीन राजाओं की गतिविधियों का केंद्र था, जो बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और जिनका बौद्ध धर्म व संस्कृति के फलने-फूलने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व चैतड़ू में महान् बौद्ध संस्कृति फली-फूली थी। यहाँ इतिहास की कड़ियों को जोड़नेवाले अनेक अवशेषों के प्राप्त होने के आसार हैं। द्रोपदी बाग़ में कराए गए पुरातात्त्विक उत्खनन में निम्न अवशेष भी प्राप्त हुए हैं

1. आठ मीटर वर्गाकार का एक सरोवर, जिसका फ़र्श पत्थर का बना हुआ है, खाई संख्या ज़ेड के 5 वृत्तपाद 3, प्रकाश में आया है। पुरातत्त्व विशेषज्ञों के अनुसार यह सरोवर कुषाणकालीन है।
2. एक अन्य खाई ज़ेड ए 2 वृत्तपाद 3 में उत्खनन के दौरान महत्त्वपूर्ण मृद्‌भांड के अंश, जिनमें मिट्टी के बर्तनों के ढक्कन, मनके, पा पोश (फुट क्लीनर) सम्मिलित हैं। मृद्‌भांड में कुछ नक़्क़ाशी और छाप के अभिकल्प अंकित किए गए हैं। प्राचीन काल की कुछ जातियाँ मिट्टी के बर्तनों को पकाने से पहले उनकी बाहरी दीवार पर कपड़े को दबा कर उसकी छाप से भी सजावट करती थीं।

   पुरातात्त्विक अध्ययन के लिए मिट्टी के बर्तन का एक टुकड़ा भी महत्त्वपूर्ण होता है। मिट्टी के बर्तनों के खंडित भाग के अनुसार पुरातत्त्व विशेषज्ञ पूरे बर्तन का आकार रेखाचित्र द्वारा बना लेते हैं, जो उस समय की कला व संस्कृति पर प्रकाश डालता है और यह उत्खनन की उपलब्धि होती है। अतः मिट्टी के पात्रों के उत्कर्ष या बनावट से उस समय की सामाजिक, आर्थिक स्थिति व कला-कौशल का भी ज्ञान होता है।
3. किसी भी सभ्यता का विस्तार बहुत व्यापक होता है, जैसे सिंधु घाटी का विस्तार रोपड़, घुग्गर-राजस्थान, दक्षिण में नर्वदा और ताप्ती के बीच के क्षेत्र, कालीबंगन, चंडीगढ़, सौराष्ट्र और कच्छ तक है। जालंधर क्षेत्र (कांगड़ा) में बौद्ध सभ्यता व संस्कृति का विस्तार बहुत व्यापक हो सकता है। चैतड़ू का भीमटीला, द्रोपदी बाग़, कांगड़ा के ही पठियार, खनियारा, खलवी, मानगढ़ क्षेत्रों को अलग-अलग संस्कृतियों से नहीं आँका जा सकता। ह्वेन्त्सांग ने जालंधर क्षेत्र, जिसके अंतर्गत ग्यारह राज्य आते थे, उसमें पचास बौद्ध विहार होने की बात कही है। उपर्युक्त स्थलों से बौद्ध कला व संस्कृति के प्रमाण भी मिल रहे हैं, जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जालंधर क्षेत्र के व्यापक हिस्से पर बौद्ध कला व

संस्कृति का प्रभाव रहा होगा, जिसका विस्तार और व्यापक हो सकता है।

पुराविद् चैतड़ू स्थल पर बौद्ध संस्कृति का विस्तार ढूँढने का प्रयास कर रहे हैं। द्रोपदी बाग़ से प्राप्त पक्की ईंटों के आकार की समानता हम पठियार क्षेत्र से प्राप्त ईंटों में भी पाते हैं। पठियार क्षेत्र से दो पाषाण बौद्ध प्रतिमाएँ हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग ने संरक्षित की हैं, जिनमें एक राज्य संग्रहालय, शिमला और दूसरी कांगड़ा कला संग्रहालय, धर्मशाला की वीथियों में प्रदर्शित हैं। ये प्रतिमाएँ सातवीं-आठवीं शताब्दी की प्रतीत होती हैं। चैतड़ू क्षेत्र को जहाँ स्थानीय लोग महाभारत काल से जोड़ते हैं, वहीं पठियार क्षेत्र के लाखा मंडल क्षेत्र, जहाँ से बौद्ध प्रतिमाएँ, मृद्‌भांड व कुषाणकालीन ईंटें प्राप्त हुई हैं, को महाभारत कालीन लाक्षागृह से जोड़ते हैं। इस क्षेत्र की मिट्टी आज भी लाल रंग की है। पठियार के कंबरहार क्षेत्र में प्रथम व द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में पाए गए शिलालेखों में ब्राह्मी लिपि राजा अशोक के समय की ब्राह्मी लिपि से मेल खाती है। संभवतः जालंधर (कांगड़ा) का क्षेत्र राजा अशोक के प्रभाव में भी रहा हो। उसने ही अपनी नीतियों और उपदेशों के प्रचार-प्रसार के लिए शिलालेख खुदवाए हों। पुराविद् चैतड़ू में भी शिलालेख व पाषाण स्तंभ की खोज कर रहे हैं। अतः बौद्ध सभ्यता और संस्कृति का दायरा सीमित क्षेत्र तक नहीं रहा होगा। यह पूरे जालंधर क्षेत्र तक था।

4. उत्खनन के दौरान द्रोपदी बाग़ में राख और कोयले के अंश भी प्राप्त हुए हैं, जिनका शोध के लिए विशेष महत्त्व है।
5. उत्खनन के दौरान बीज भी मिले हैं, जिसके अध्ययन के उपरांत ही कुछ निष्कर्ष निकाला जा सकेगा कि उस काल में किस प्रकार की खेती होती थी।
6. उत्खनन एक कठिन कार्य है, जिसमें एक स्थल पर पूर्ण रूप से उत्खनन करने में बरसों लग जाते हैं। चैतड़ू स्थल पर अभी तक 'ट्रायल ट्रेंचज़' खोदी गई हैं। निकट भविष्य में जब स्थल पर पूर्ण उत्खनन किया जाएगा तो आशा की जानी चाहिए कि यहाँ एक बौद्ध चैत्य परिसर, बौद्ध पाषाण स्तंभ (जिसकी चर्चा ह्वेन्त्सांग ने की है), एक कलात्मक पत्थर का द्वार (जिसकी चर्चा यहाँ के बुजुर्ग लोग करते हैं) मिलने की संभावना है। यहाँ कुछ पाषाण मूर्तियाँ व सिक्के मिलने की संभावना भी है। उल्लेखनीय है कि बहुत समय पूर्व इस क्षेत्र से चार कुषाणकालीन सिक्के मिले थे, जो भारतीय पुरातत्त्व विभाग के संरक्षण में हैं।

प्रसिद्ध पुराविद् सर रार्बट एरिक मार्टिमर व्हीलर ने ठीक कहा है, 'हम पदार्थ नहीं संस्कृति का उत्खनन करते हैं, हमारे लिए ज़मीन से निकला हुआ ख़ज़ाना भी बेकार है, जो इतिहास की रचना न कर सके और वह सड़ी गली लाश भी बहुत क़ीमती होती है, जो बीते युग की पूरी कहानी बताती है।'

तेरहवीं शती के अभिलेख में चम्बा समाज

अमर नाथ खन्ना

चम्बा के सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए और ऐतिहासिक तथ्यों के दृष्टिगत यहाँ के अभिलेखों की विपुल सामग्री अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शारदा लिपि में लिखे गए ताम्र पत्र जितनी बड़ी संख्या में चम्बा क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं, इतनी संख्या में तो समग्र कश्मीर से भी नहीं मिलते, जो शारदा लिपि का मूल स्थान रहा है। डॉ. जॉन फिलिप फोगल और डॉ. बहादुर चन्द छाबड़ा ने इन महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ों को अनूदित करके चम्बा के जिस गौरवमय इतिहास को उजागर किया है, उस कार्य के लिए चम्बयाली समाज उनके प्रति सदैव कृतज्ञ रहेगा। डॉ. फोगल ने अपनी प्रसिद्ध कृति *एंटिक्विटीज़ ऑफ चम्बा स्टेट* (प्रथम भाग) में पूर्व मुस्लिम काल की इबारतों को प्रकाशित किया था, जबकि उनके सुयोग्य शिष्य डॉ. छाबड़ा ने अपने गुरु का अनुसरण करते हुए तेरहवीं शती पश्चात् के अभिलेखों को अनूदित किया।

डॉ. छाबड़ा की पुस्तक *एंटिक्विटीज़ ऑफ चम्बा स्टेट* (भाग-2) का प्रथम अभिलेख 1330 ई. का है, जबकि इसी पुस्तक में अंतिम अभिलेख 1860 ई. का है। पुराने अभिलेख द्विभाषी हैं। प्रारंभ में तिथि सहित जारी करनेवाले राजा का उल्लेख है तथा इनमें स्थान व ग्रहणकर्ता का ब्यौरा दिया गया है। भूमिदान के मामलों में सीमाओं का उल्लेख किया गया है और इनमें स्थानीय चम्बयाली शब्दावली का उपयोग हुआ है। इन अभिलेखों के अध्ययन से ज़ाहिर होता है कि तत्कालीन विज्ञ समाज में संस्कृत का अल्प ज्ञान था।

अधिकांश अभिलेख भूमिदान से सम्बंधित हैं। दानकर्ता राजा के अतिरिक्त रानियाँ, उत्तराधिकारी, युवराज, राजा की बड़ी बहन और धात्री (दाई) के नाम उल्लिखित हैं। प्रत्येक अभिलेख में दान का उद्देश्य और सभी महत्त्वपूर्ण ब्यौरे लिखे रहते हैं। 1780 ई. का ताम्रपत्र शेष अभिलेखों में भिन्न है, क्योंकि इसमें कांगड़ा

के राजा संसार चन्द और चम्बा के राजा राज सिंह के मध्य राजनैतिक और मैत्रीपूर्ण सम्बंधों की बात की गई। अधिकांश अभिलेखों में विष्णु, कृष्ण, रघुवीर या राम, सीता और लक्ष्मी नारायण तथा चामुण्डा भगवती का उल्लेख मिलता है।

राजा पृथ्वी सिंह ने 1641 ई. में पांगी में मिंधल गाँव को उसके समस्त वासियों सहित चामुण्डा भगवती को अर्पित कर दिया था। उस दिन से लेकर आज तक वहाँ के वासियों को देवी की प्रजा माना जाता है। वर्ष 1857 ई. के ताम्रपत्र में राजा श्रीसिंह द्वारा भगवती ज्वालामुखी को बाड़ी गाँव अर्पित करने का उल्लेख है। यह भूमि प्रत्येक प्रकार के कर से मुक्त थी। 1541 ई. में रानी प्रयाग देवी द्वारा गवाडू नामक ब्राह्मण को एक खेत दान दिये जाने का उल्लेख है। परन्तु यह भूमि कर मुक्त न थी और दान ग्रहणकर्ता को राज्य कर के रूप में प्रत्येक वर्ष फसल का भाग अवश्य देना पड़ता था।

वर्ष 1579 ई. का अभिलेख यद्यपि भू-दान से सम्बंधित है, उसमें ऐतिहासिक महत्त्व की सूचना भी दर्ज है। उल्लेख है कि राजा के दो मंत्रियों ने ओछा ग्राम के असली हकदार को तीन वर्ष तक उसके अधिकार से वंचित रखा। पता चलने पर इस मामले में राजा ने स्वयं हस्तक्षेप करते हुए फैसला सुनाया, जिसके अनुसार युवराज बलभद्र वर्मन ने स्वयं जाकर पंडित को उसका अधिकार दिलाया। दोनों मंत्रियों को निष्कासित किया गया और तीन सौ स्वर्ण मोहरों का दंड दिया गया। इस अभिलेख से मालूम होता है कि चम्बा जैसे दूरस्थ पहाड़ी राज्य में सबको न्याय मिलता था। राजा बलभद्र वर्मन अपनी दानवीरता के लिए प्रसिद्ध था। वह भोजन ग्रहण करने से पहले ब्राह्मणों को भूमि दान देता था। इस कारण उसे बलिकर्ण नाम दिया गया था। ब्राह्मणों के अतिरिक्त बलभद्र वर्मन ने अपने रसोईये को भी भूमि दान में दी थी, जिसका एक ताम्रपत्र में उल्लेख है। करमुक्त भूमि व्यक्ति विशेष को राज्य की सेवा हेतु प्रदान की जाती थी। मंदिरों को प्रदान की गई भूमि के मामलों में राजा अपने अधिकारों सहित देवता को भूमि अर्पित करते थे।

भूमि का दान प्रायः विशेष अवसरों पर किया जाता था, जैसे राज्यारोहण, राजपुत्र का जन्म, उत्कृष्ट सेवाओं अथवा युद्ध आदि में वीरता दिखाने और राज्य के प्रति निष्ठा का उदाहरण प्रस्तुत करने पर।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अवसरों पर भी भूमि दान का उल्लेख है, जैसे हरिवंश पुराण और दुर्गा-सप्तशती के पाठ पर पंडितों को दक्षिणा के रूप में भू-भाग दिया जाता रहा था। अनंत चतुर्दशी-व्रत के समापन, सूर्य ग्रहण, यज्ञोपवीत संस्कार पर भी दक्षिणा के रूप में भू-दान की परम्परा थी। पुल निर्माण के अवसर पर भी भूमि दान में दी गई थी। राजपरिवार के किसी सदस्य की मृत्यु पर गंगा में अस्थियाँ प्रवाहित करने के लिए ब्राह्मणों को भूमि दान दिया जाता रहा। अधिकांश अभिलेख राजपुरोहित अथवा पंडितों द्वारा लिखवाये गये, जिनके नाम ताम्रपत्रों पर अंकित हैं।

ताम्रपत्रों को उत्कीर्ण करने का कार्य सुनार अथवा ठठेरा करते थे। यदा-कदा उनके नाम भी ताम्रपत्रों पर अंकित होते रहे हैं।

अधिकांश भूमिदान ब्राह्मणों को दिये गये। उनके गोत्र नाम भी अभिलखों में अंकित हैं। गोत्रों की संख्या अधिक होने से विदित होता है कि ये ब्राह्मण समय-समय पर विभिन्न क्षेत्रों से चम्बा में आ बसे थे। यह रोचक तथ्य है कि राजा पृथ्वी सिंह ने भट्ट गोपाल शर्मन नामक द्रविड़ ब्राह्मण को भूमिदान दिया था। वाधुल गोत्र का यह आयंगर ब्राह्मण दक्षिण भारत से आया था। यह विदित है कि दक्षिण भारत के विजयनगर राज्य का मुस्लिम आक्रान्ताओं ने विध्वंस कर दिया था। इसलिए बड़ी संख्या में दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों को उत्तर भारत की ओर पलायन करना पड़ा था। सम्भवतः भट्ट गोपाल शर्मन द्रविड़ ब्राह्मण भी उस काल में चम्बा स्थानान्तरित हुआ हो।

इस प्रकार चम्बा में मध्यकाल के ये अभिलेख प्रशस्तियों से भिन्न, विविध सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के दिलचस्प तथ्यों को उजागर करते हैं।

मंडी जनपद में प्राप्त सिक्के

डॉ. कमल के. प्यासा

मंडी एक ऐतिहासिक नगर रहा है, इसमें कोई दो मत नहीं। पाणिनि ने *अष्टाध्यायी* में इसे 'मण्डमती' के नाम से अंकित किया है। *महाभारत* में एक स्थान पर माण्डव्य ऋषि के घोर तप की चर्चा की गई है और जन-श्रुतियों के अनुसार मंडी का नाम माण्डव्य ऋषि के नाम पर ही बताया जाता है।

एतिहासिक स्रोतों में सिक्कों को मूल तथा पक्का स्रोत माना गया है। क्योंकि सिक्कों की पहचान पर ही हम किसी शासक व उसकी आर्थिक स्थिति का, उसके धर्म व विश्वास का, राज्य की सीमा, कला-कौशल, व्यापारिक सम्बन्धों, धातु-विज्ञान व उस समय के अस्त्र-शस्त्रों आदि का पता लगा सकते हैं। सिक्कों का चलन कब और कैसे शुरु हुआ, इसका लम्बा इतिहास है। शुरु-शुरु में वस्तुओं में सीधे अदला-बदली हुआ करती थी, जो बाद में पशुओं (गाय-बैल) की अदला-बदली में बदल गई। पशुओं की अदला-बदली तो आज भी इस क्षेत्र में लगने वाले पशु-मेलों (नलवाड़) में आम देखने को मिल जाती है। लेकिन समय के साथ-साथ जब पशुओं की अदला-बदली उचित नहीं रही तो कौड़ियों का प्रचलन शुरू हो गया। कौड़ियों के पश्चात् धातु के टुकड़ों का और फिर धातु के सिक्कों का चलन शुरू हुआ। कौड़ियों की कीमत भी सिक्कों की तरह चढ़ती-उतरती रहती थी। इनकी सामान्य कीमत कुछ इस प्रकार से होती थी

20 कौड़ी एक काकीनी के बराबर
4 काकीनी एक ताम्बे के पण के बराबर
16 पण एक चाँदी के द्रम्मा के बराबर

इस तरह से चाँदी का एक द्रम्मा 1280 कौड़ी के बराबर होता था। कौड़ियों का चलन तो मंडी में भी रहा है, क्योंकि आज भी यहाँ पैसे की गोलकों में सिक्कों के साथ-साथ कौड़ियों को भी देखा जा सकता है। इस तरह इन कौड़ियों से यह पुष्टि

हो जाती है कि इस क्षेत्र में भी लेन-देन के लिए इनका प्रयोग होता रहा है।

स्थानीय सिक्के मंडी क्षेत्र से प्राप्त सिक्कों के आधार पर इस जनपद का इतिहास ई. पू. पाँचवी-छठी शताब्दी पीछे तक पहुँच जाता है। यहाँ से प्राप्त सिक्कों में स्थानीय सिक्के जिन्हें '*ढोला-ढब्बा*' के नाम से जाना जाता था, रियासती समय में आम चलते थे। '*ढोला-ढब्बा*' नामक ये सिक्के ताम्बे के गोलाकार होते थे और इन पर शासक का नाम फारसी लिपि या फिर टांकरी में लिखा हुआ मिलता है। '*ढोला-ढब्बा*' सिक्के की तरह ही इस क्षेत्र से ताम्बे, चाँदी के मुगलकालीन सिक्के भी भारी मात्रा में प्राप्त हुए हैं। सोने के सिक्के भी इक्का-दुक्का प्राप्त हो चुके हैं।

मुगलकालीन फारसी लेख के सिक्के मुगलकालीन सिक्कों पर उर्दू-फारसी के लेख पढ़ने को मिलते हैं। चाँदी के प्राप्त सिक्कों में अधिकतर बादशाह अकबर, शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब बादशाह के ही सिक्के प्राप्त हुए हैं। प्राप्त सिक्कों के एक तरफ सिक्के को जारी करनेवाले शासक का नाम, उसकी उपलब्धियाँ व जारी करने का सम्वत् आदि लिखा मिलता है। सिक्के के दूसरी ओर उर्दू-फारसी में लिखीं कलमें व खलीफों के नाम पढ़ने को मिल जाते हैं। अकबर के एक सिक्के में कुछ इस तरह से पढ़ने को मिलता है एक ओर : *अल्लाह अकबर जाला जल्लाह;* और दूसरी तरफ: *अव्वान ईल्लाही जरब अहम्मदाबाद* 30;[1] जबकि शाहजहाँ के सिक्के पर इस तरह से इबारत पढ़ने को मिलती है

एक ओर : *लाहक मजमद मुस्तक अली इल्ला मस्सलम।*

दूसरी तरफ : *ला ईल्लाही इल्ल ईल्ला मुहम्मद रसूल ईल्ला* (कलम) *अल्ली हैदर उसमान अल्ली बमजर खताब अबीन सदीक* (सभी खलीफों के नाम)।

सिक्कों के आकार-प्रकार मुगलकालीन चाँदीवाले सिक्के गोलाकार तथा वर्गाकार दोनों प्रकार के मिलते हैं। भार में इस तरह के सिक्के 11.5 ग्राम से लेकर 13.5 ग्राम तक के देखे गए हैं। मोटाई में औसतन 0.25 सै.मी. से लेकर 0.4 सै.मी. तक मापे गए हैं। इस क्षेत्र में मुगल शासकों के व्यापारिक सम्बन्धों व प्रभाव की पुष्टि इन्हीं सिक्कों के आधार पर पक्की हो जाती है। इसी तरह यहाँ से कुछ एक सिख कालीन ताम्बे-चाँदी के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों के एक तरफ पंख या पत्ते का चित्रण तथा दूसरी तरफ गुरुमुखी, टांकरी व उर्दू-फारसी लिपि में लिखे लेख (शब्द) पढ़ने को मिलते हैं। चाँदी वाले सिक्के के एक ओर अपूर्ण रूप में फारसी लिपि में गुरुगोविन्द सिंह जी का नाम अंकित मिलता है और इसी सिक्के के दूसरी तरफ अपूर्ण रूप में *जरब श्री अमृतसर जलूस-ए-तख़त अकाल सम्बत् 1812* मिलता है।[2]

पंजाब के सिख शासकों के साथ सम्बन्धों की पुष्टि तो मंडी रियासत के राजा सिद्धसेन (1684-1727) के समय सिख गुरुगोविन्द सिंह जी के यहाँ (1701 ई. में) पधारने से भी हो जाती है। उस समय सिद्धसेन ने गुरु के मंडी पहुँचने पर

उनका भव्य स्वागत किया था।

क्षेत्र से प्राप्त अन्य प्राचीन सिक्के मंडी क्षेत्र से प्राप्त सिक्कों में केवल मुगलकालीन व सिख सिक्के ही नहीं गिनाए जा सकते, बल्कि अन्य कई प्रकार के प्राचीन सिक्के भी आ जाते हैं, जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से अपना ही महत्त्व है। इन प्राप्त सिक्कों में बैल व घोड़े वाले सिक्के, कुषाणकालीन सिक्के, कबायली सिक्के जैसे कुणिंद, यौद्धेय, गादिया व कुछ अन्य प्रकार के सिक्के भी आ जाते हैं। कुछ कबायली सिक्कों की तो पहचान हेतु अभी खोजबीन जारी है। इतना ही नहीं, हालही में कुछ आहत किस्म के चाँदी के सिक्के भी यहाँ से प्राप्त हो चुके हैं।

बैल-घोड़ेवाले सिक्के इस प्रकार के सिक्कों का चलन सबसे पहले गुप्त काल में स्कंद गुप्त द्वारा (455-467ई.) किया गया था। नवीं शताब्दी में गंधार के शाही वंश ने भी इस प्रकार के चाँदी व ताम्बे के सिक्कों का चलन शुरू किया था। बाद में इसी तरह के सिक्कों का चलन यहाँ (भारत में) सपलपतिदेव द्वारा भी किया गया, जिसका अनुसरण फिर कई अन्य शासकों द्वारा भी किया गया। इन शासकों में सामन्त देव का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। दसवीं शताब्दी में तोमर शासकों द्वारा तथा 12वीं शताब्दी में कई अन्य शासकों ने चाँदी-ताँबे तथा मिश्र धातु (चाँदी-ताम्बा) के इसी प्रकार के सिक्के जारी किए थे, जिनमें सामन्त देव का नाम वैसा ही रहने दिया गया था। लेकिन दूसरी ओर घोड़े के ऊपर की तरफ सिक्के को जारी करनेवाले शासक का नाम दिया गया था।

दिल्ली के शासक मुहम्मद गौरी (सुल्तान मोहम्मद बीन साम) द्वारा भी इस प्रकार के सिक्कों का चलन शुरू किया गया था। मोहम्मद बीन साम द्वारा जारी इन सिक्कों में बैल के ऊपर की तरफ *मोहम्मद बीन साम* नागरी लिपि में लिखा मिलता है व *श्री हमीरा* घोड़ेवाली तरफ लिखा मिलता है। आगे 14वीं शताब्दी में इसी तरह के मिलते-जुलते सिक्कों का चलन कांगड़ा के शासकों द्वारा भी किया गया। 1330 ई. में पिथमा चन्द्र ने भी इसी तरह के सिक्के चलाए। सिक्कों में पिथमा चन्द्र का नाम बैल की तरफ लिखा मिलता है। कांगड़ा के पश्चात् इस तरह के सिक्कों का चलन पड़ोसी रियासतों में भी शुरू हो गया।[3] मंडी क्षेत्र से प्राप्त होनेवाले इस तरह के सिक्कों पर नागरी लिपि में श्री सामन्तदेव व अष्टपाल या मृतपाल लिखा मिलता है।[4] इस तरह इन प्राप्त सिक्कों से भी पड़ोसी रियासतों से सम्बन्ध होने की पुष्टि हो जाती है।

कुषाणकालीन सिक्के कुषाण जाति का सम्बन्ध यूची कबीले से बताया जाता है। यही यूची कबीला बैक्ट्रीया में (120 ई.पू.) एक शक्तिशाली कबीले के रूप में उभरा था। 25 ई.पू. इस कबीले ने चार अन्य कबीलों को अपने प्रभुत्व में शामिल करके कुषाण जाति को जन्म दिया। कुषाणों ने आगे चलकर पार्थिया पर आक्रमण करके अफ़गानिस्तान के कुछ हिस्से अर्थात् गंधार व निचली स्वात् घाटी पर अधिकार कर

लिया। फिर कुषाण जाति ने आगे बढ़ते हुए अपना साम्राज्य उत्तरी भारत तक फैला लिया और वाराणसी तक पहुँच गए।

कुषाणकालीन सिक्कों का ढेर मंडी के चक्कर नामक स्थान से प्राप्त हुआ था, जिसमें इन सिक्कों के साथ ही कुणिंद तथा यौद्धेय सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। कुषाणकालीन प्राप्त सिक्कों से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि कुषाणों का प्रभाव इस जनपद पर भी था। ऐसा भी हो सकता है कि यह क्षेत्र भी कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत रहा होगा।

कबायली सिक्के भारत में कहीं-कहीं तो देवी-देवता के नाम पर भी राज्य का सारा शासन प्रबन्ध चलता था। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था वाले कुछ कबायली प्रजातन्त्र भी थे। जैसे कि पंजाब में औदुम्बर, कुणिंद, यौद्धेय, गादिया तथा कुछ अन्य इसी तरह के राज्य, जो बड़ी-बड़ी शहरी रियासतों के समकालीन थे तथा इन सभी की प्रशासन-व्यवस्था शहरी रियासतों जैसी ही थी। इन कबायली शासकों ने अपने देवी-देवताओं जैसे कि महादेव (शिव), चर्तेश्वर (शिव), ब्राह्मजय (कार्तिक) आदि के नाम के सिक्के चलाए।

शासन-व्यवस्था तो मंडी में भी 1648 ई. में राजा सूरज सेन ने भगवान् माधव राव (रामचन्द्र) की प्रतिमा को समर्पित कर दी थी।[5] कबायली प्रजातन्त्रों की स्वतन्त्रता कुछ समय बाद समाप्त हो गई और फिर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का उदय होने लगा। लेकिन ज्यों ही इन राजा-महाराजाओं का साम्राज्य डगमगाने लगा तो वह कबायली शासक फिर से उठ खड़े हुए। दूसरी शती ई.पू. शूद्रक, राजन्य, सिबी, त्रिगर्त, आगरीय तथा यौद्धेय आदि शासकों ने अपने-अपने सिक्के जारी किए।

जनजातीय सिक्के मंडी क्षेत्र से जो जनजातीय सिक्के प्राप्त हुए हैं, उनमें कुणिंद, यौद्धेय व कुछ अन्य कबायली सिक्के भी शामिल हैं। इन सिक्कों पर ब्राह्मी व खरोष्ठी लिपि में राजा के नाम के साथ-साथ उनकी उपाधियाँ भी लिखीं मिलती हैं। कबायली सिक्के जो इस क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं, वे अधिकतर ताम्बे के ही हैं, लेकिन कुछ चाँदी के भी प्राप्त हुए हैं।

कुणिंद सिक्के कुणिंदों का निवास स्थान सतलुज नदी के दोनों तरफ बताया गया है। वराहमिहिर ने इन्हें कहीं कुल्लू के समीप का बताया है।[6] *विष्णु पुराण* तथा *मार्कण्डेय पुराण* में इन्हें कुलिन्द कहा गया है। उधर सर कनिंघम ने तो कनैतों को ही कुणिंदों से सम्बन्धित बताया है।[7] कनैत लोग आज भी इस क्षेत्र में बसे हैं तथा सतलुज नदी भी मंडी के साथ-साथ एक तरफ की सीमारेखा बनाती है। अतः इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि कुणिंद जाति के लोग इसी क्षेत्र के निवासी थे और साथ ही सतलुज नदी के दोनों तरफ निवास करते थे।

कुणिंद सिक्कों का चलन प्रथम शती ई. पू. से हो चुका था। जबकि एक

तरफ शुंग काल का पतन तथा दूसरी तरफ हिन्दू-यूनानी शासक भी न के बराबर थे।[8] इस तरह से कुणिंद स्वतंत्र रूप से अपने राज्य की स्थापना के पश्चात् अपने सिक्के भी जारी कर चुके थे। कुणिंदों के सिक्के कुषाणकालीन सिक्कों के ढेर के साथ ही मंडी के चक्कर नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। कुणिंदों के इन सिक्कों से पता चलता है कि हिमाचल प्रदेश के अन्य क्षेत्रों की तरह ही मंडी क्षेत्र भी कुणिंदों के प्रभाव में रहा या ऐसा कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र के कुणिंदों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे।

यौद्धेय सिक्के यौद्धेय जाति प्राचीन काल से ही अपनी वीरता के कारण प्रसिद्ध थी और इसी कारण इन्हें यौद्धेय नाम से पुकारा जाने लगा था। पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में इन्हें पंजाब की लड़ाकू जाति बताया है और इनका निवास स्थान भी सतलुज नदी के दोनों तरफ बताया गया है।

यौद्धेयों का उल्लेख तो रूद्र दामा (सौराष्ट्र के अल्प राजा) के जूनागढ़ अभिलेख में भी मिलता है, जिसमें 150 ई. के लगभग क्षत्रप राजा द्वारा इन्हें हराया गया बताया है। लेकिन इनकी वीरता की कहानियों की जानकारी कई स्रोतों से मिलती है जैसे कि समुद्रगुप्त के अलाहबाद स्तम्भ में 470 ई. में इनके शक्तिशाली होने का उल्लेख मिलता है। वैसे यौद्धेय सिक्कों का चलन प्रथम शती ई.पू. से हो गया था तथा कुषाणों के पतन के बाद इन्होंने पंजाब से हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा व चम्बा क्षेत्रों की तरफ अपने गणराज्य का विस्तार कर लिया था।[9]

इन सिक्कों के एक तरफ हाथ ऊपर किए हुए एक मानव आकृति है तथा इसी सिक्के के दूसरी ओर छह सिरोंवाले कार्तिक स्वामी अंकित हैं। आभास होता है कि कुषाणों के पश्चात् यौद्धेय, इस क्षेत्र में आए होंगे, क्योंकि इनके सिक्कों पर कुषाण सिक्कों की झलक स्पष्ट देखने को मिल जाती है।

आहत किस्म के सिक्के आहतवाले सिक्के धातु के टुकड़ों पर निशान लगा कर तैयार किए जाते थे। ये निशान गोल चक्कर, सूर्य, वृक्ष, पशु आकृति, चापोंवाली पहाड़ी आदि के रूप में देखने को मिलते हैं। आम तौर पर सिक्के पर पाँच आहत के निशान होते हैं, लेकिन कहीं-कहीं इससे कम या अधिक निशान भी देखने को मिल जाते हैं।

मंडी के बल्ह क्षेत्र से प्राप्त आहतवाले इन सिक्कों पर वृक्ष, सूर्य तथा चापों वाली पहाड़ी ही देखने को मिलती है।[10] इनके साथ ही कुछ अन्य चिह्न भी हैं, जो दिखाई नहीं देते। प्राप्त चाँदी के इन आहतवाले सिक्कों का भार 3.15 ग्राम से 3. 95 ग्राम तक तोला गया है तथा मोटाई में ये सिक्के 0.15 सें.मी. से 0.25 सें.मी. के मापे गए हैं। इस तरह के सिक्कों का चलन भारत में छठी शताब्दी ई.पू. में था। इतने प्राचीन सिक्कों का मंडी क्षेत्र में प्राप्त होना, इस क्षेत्र की प्राचीनता का प्रतीक ही है। स्पष्ट है कि ई. पू. में भी इस क्षेत्र का अस्तित्व था और इस क्षेत्र के व्यापारिक

सम्बन्ध अपने आस-पास के राज्यों के साथ ही नहीं, बल्कि दूर-दूर तक रहे हैं। अभी तो कुछ कबायली मानव आकृति (लेखक का निजी संग्रह) के सिक्के जिनकी पहचान हेतु खोजबीन जारी है, अपने में प्राचीनता समेटे हैं और इस क्षेत्र की ऐतिहासिक कड़ियों को जोड़नेवाले प्रतीत होते हैं।

प्राचीन सिक्कों के गहन अध्ययन से हमें मात्र अपने प्राचीन इतिहास की जानकारी ही नहीं मिलती, बल्कि इन्हीं सिक्कों के आधार पर तत्कालीन जीवन के अनेक आयाम खुलते हैं। इससे हमारी संस्कृति, लोक विश्वास, जनजीवन, धातु विज्ञान, धार्मिक विचारधारा आदि कई तथ्यों की जानकारी मिल जाती है।

संदर्भ

1. तबाकद-ए-नासीरी, पृ.556
2. लेखक के अपने संग्रह के सिक्कों से
3. पी. एल. गुप्ता, सिक्के, पृ.219, क्र. सं.184-85
4. लेखक के अपने संग्रह के सिक्कों से
5. मलाणा (कुल्लू) में आज भी शासन व्यवस्था देवता के आदेशानुसार चलती है।
6. वराहमिहिर वृत्त संहिता, पृ.32-33
7. सर ए. कनिंघमः प्राचीन भारत के सिक्के, पृ.71 व 75
8. डॉ एल.पी.पांडे : प्राचीन भारत का इतिहास, धर्म और संस्कृति, पृ. 43
9. सर ए. कनिंघम : प्राचीन भारत के सिक्के, पृ.51
10. स्व. चन्द्रमणि कश्यप व डॉ. कमल के. प्यासा (मंडी) के संग्रह से

सिरमौर की पुरातत्त्व धरोहर

रमेश चन्द्र

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा करवाये गये सिरमौर ज़िला के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के दौरान ऐसे तथ्य प्रकाश में आये हैं, जो इस क्षेत्र की समृद्ध पुरातत्त्व धरोहर की ओर इंगित करते हैं। ज़िला सिरमौर का मुख्यालय नाहन, एक ऐतिहासिक नगर है। यहाँ की मंदिर वास्तुकला, नगर निर्माण कला पूरे क्षेत्र की कला-सम्पन्नता का आभास करवा देती है। इस क्षेत्र की मूर्तिकला, चित्रकला, मंदिर निर्माण कला व यहाँ पाई गई पुरातत्त्व सामग्री और इनसे जुड़ा इतिहास ज़िला सिरमौर को सही अर्थों में सिरमौर यानी 'शीर्ष' बना देता है।

यहाँ सातवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के मंदिर पाये गये हैं। नगर शैली जिसे शिखर शैली भी कहा जाता है, के मंदिर बहुत कम मात्रा में हैं और वह भी आरम्भिक काल में प्रकाश में नहीं आये। कई स्थानों पर उपरोक्त शैली के मंदिरों के अवशेष मिले हैं। यह मंदिर भूकम्प, विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा तथा उपेक्षा से नष्ट हुए होंगे। यह क्षेत्र-मुसलमान शासकों के प्रभाव में रहा, इस कारण यहाँ के बहुत से मंदिर गुम्बदाकार में परिवर्तित हो गए। ऐसे मंदिर मुख्यतया तहसील नाहन व पौंटा साहिब में पाये गये हैं। सिरमौर ज़िला में एक महत्त्वपूर्ण स्मारक प्रकाश में आया है। पाषाण निर्मित यह उत्तरगुप्त कालीन शिव मंदिर सिरमौर के मुख्यालय नाहन के उत्तर में लगभग 75 कि.मी. की दूरी पर मानगढ़ गाँव में पाया गया है।

यह मंदिर गुप्तकालीन कला की शास्त्रीय विशेषता या गुणों के बहुत समीप है, जिससे विदित होता है कि यहाँ गुप्तकालीन शिल्प की परम्परा प्रचलित थी। मानगढ़ का यह मंदिर पूरे भारत में कुछ गिने-चुने उस समय के निर्मित हिन्दू मंदिरों में से एक है। इस प्रकार का मंदिर मध्य प्रदेश में झांसी ज़िला के देवगढ़ नामक स्थान पर भी है, जो दशावतार मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। सिरमौर जैसे पहाड़ी क्षेत्र

में इस युग का मंदिर मिलना अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

तहसील राजगढ़ से 10 कि.मी. की दूरी पर राजगढ़-नाहन सड़क पर एक 'गुरु एतवार नाथ गिरि मठ' स्थित है। कहा जाता है कि इस का निर्माण शिमला ज़िला की बलसन रियासत के राणा द्वारा करवाया गया था। मठ में अभिलेखागार से सम्बंधित सामग्री अभी भी सुरक्षित रखी गई है, जिसमें राजाओं के हुक्मनामे, पाण्डुलिपियाँ इत्यादि सम्मिलित हैं, जो शोध-कर्ताओं के लिए अच्छी सामग्री है। मठ के अन्दर कुछ प्राचीन अस्त्र-शस्त्र भी रखे हुए हैं। दूरदराज के क्षेत्रों में पहाड़ी शैली में निर्मित एक से लेकर पाँच मंज़िलों तक के मंदिर भी हैं, जिन्हें पेन्ट-रूट मंदिर की संज्ञा दी गई है।

सिरमौर ज़िला में मिली पाषाण मूर्तियों का काल 7वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी तक का है। राजगढ़ के देवरिया गाँव में भद्रमुख की 7वीं शताब्दी की प्रतिमा उपेक्षित अवस्था में पड़ी है। राजगढ़ में ही सनौरा व पौंटा साहिब के नागनौना नामक स्थान पर प्रतिहार शैली की मूर्त्तियाँ मिलीं हैं। शाया सनौरा में बैकुंठ मूर्ति, सूर्य, गौरीशंकर, विष्णु, गणेश, गंगा देवी, नागनौना तहसील पौंटा साहिब के नाग मंदिर में लक्ष्मी-नारायण की मूर्ति, सूर्य व अन्य प्रतिमाएँ उत्तर भारतीय प्रतिहार शैली के सुन्दर नमूने हैं। नागनौना के मंदिर के प्रांगण में खुदाई करने पर अभी भी पाषाण प्रतिमाएँ मिल रही हैं। नाग मंदिर व उसकी अमूल्य मूर्तियाँ बरसात के दिनों में पानी में डूबी रहती हैं, क्योंकि यह मंदिर एक बड़े गढ़े में स्थित है। आसपास की मिट्टी को शीघ्र हटाया जाना आवश्यक है, ताकि मंदिर व प्रतिमाओं को नष्ट होने से बचाया जा सके। ऐसा प्रतीत होता है कि पौंटा साहिब से 12 कि.मी. उत्तर पूर्व में नदी के किनारे स्थित सिरमौरी ताल, जो कभी सिरमौर रियासत की राजधानी रहा है, इस क्षेत्र की सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र था। यह स्थान 11 वीं शताब्दी के भूकम्प में तहस-नहस हो गया था। आज भी यहाँ पाषाण मूर्तियों व मन्दिरों के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं।

कुछ पाषाण प्रतिमाएँ तहसील पच्छाद के देवरियाँ चितौर व राणा मंदिर घिरड सद्रोल में पाई गई हैं, जो काल व कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये मूर्तियाँ उपेक्षित अवस्था में पड़ी नष्ट हो रही हैं। गाँव देवरिया चितौर में मिली सप्तमातृका की पाषाण मूर्ति अति महत्त्वपूर्ण है। भरमौर चम्बा में सातवीं शताब्दी में निर्मित लक्षणा देवी मंदिर के द्वार पर सप्तमातृका की मूर्ति है। सप्तमातृका की दूसरी मूर्ति अब सिरमौर ज़िला में मिली है। यह एक दुर्लभ मूर्ति है। सिरमौर ज़िला के अन्य स्थानों पर जैसे काण्डो, पालू, फागू, अम्बोया, बनेठी, घिरड़ सन्द्रोल इत्यादि में, जो पाषाण मूर्तियाँ मिली हैं उनका काल 13 वीं-14वीं शताब्दी तक का प्रतीत होता है। आईकनोग्राफी की दृष्टि से भी ये महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ के हर गाँव में हम पाषाण मूर्तियाँ पाते हैं, जो अधिकतर उपेक्षित अवस्था में हैं, कुछेक खंडित होने के कारण

पूजी नहीं जातीं हैं।

सिरमौर ज़िला के प्रत्येक गाँव के मंदिर में, दूर-दराज के इलाकों में मोहरे (मैटल मास्क) पाये गये हैं। ये शिरगुल देवता व बिजट देवता या देवी के रूप में जाने जाते हैं। शिरगुल व बिजट देवता सिरमौर वासियों के लिए प्रमुख आराध्य देव हैं। देवी या देवता के मुख या धड़ को ही प्रदर्शित करते हैं। इन पर उकेरित आभूषण जैसे हार, मुकुट, कुकेल के कारण ये कला के उत्कृष्ट व सजीव नमूने हैं। दूरदराज के कई मंदिर वर्षों से बन्द पड़े हैं। कोई उनकी देखभाल करनेवाला नहीं है। उनमें रखे सुन्दर कलात्मक मोहरे उपेक्षित अवस्था में है। कुछेक मंदिरों में देवी-देवताओं की धातु मूर्तियाँ सही अवस्था में भी विद्यमान हैं। सिरमौर जिला में कई स्थानों पर अभिलेख पाये गये हैं। सदौड़ तहसील नाहन व मीरपुर कोटला के एक गुरुद्वारा में कुएँ की भीतरी दीवार की एक शिला पर ब्राह्मी लिपि में कुछ अक्षर पाये गये हैं, जिनके अध्ययन से यह जाना जा सकता है कि ब्राह्मी लिपि में उकेरित यह शिला यहाँ कैसे स्थापित हुई। धातु के मोहरों पर व भित्ति चित्रों पर इन्साक्रिशन पाये गये हैं, जो इतिहास सम्बंधी शोध में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

मंदिरों की दीवारों व छतों पर भित्ति-चित्रों का पाया जाना इस क्षेत्र की कला में एक और अध्याय जोड़ देता है। पौंटा साहिब में स्थित ठाकुरद्वारा श्री दई साहिवा के मंदिर में 83 भित्ति-चित्र पाये गये हैं। यह मंदिर सिरमौर के राजा फतेह प्रकाश (1815-1850) की पुत्री श्रीदेई साहिबा ने यमुना नदी के किनारे बनवाया था। तहसील पौंटा साहिब से 29 कि.मी. दूर व राजपुरा से 5 कि.मी. दूर रामपुरघाट के शिव मंदिर, तहसील नाहन के जगन्नाथ मंदिर व अन्य कई मंदिरों में भित्ति-चित्र पाये गये हैं। कुछ मंदिर उपेक्षा के शिकार हैं, कुछ मंदिरों पर प्रबन्धक सफेदी करा रहे हैं या पेंटिंगज़ का सुधार करवा रहे हैं, जो चिन्ता का विषय है। इससे भित्तिचित्र कला के लुप्त होने का अन्देशा है।

सबसे अच्छी काष्ठ कला राजगढ़ तहसील में देवटी मंझगाँव के शिरगुल मंदिर में पाई गई है। दूर-दराज के सभी मंदिरों के द्वारों व स्तम्भों पर सुन्दर काष्ठ कला देखने को मिलती है।

ज़िला सिरमौर पुरातत्त्व की दृष्टि से भी समृद्ध तथा महत्त्वपूर्ण है। हमारी सभ्यता की कहानी लगभग 20 लाख वर्ष पुरानी है, जब पाषाण युग का आरंभ हुआ था। आरम्भिक काल में मनुष्य तराशे हुए पत्थर का प्रयोग करता था। औज़ारों का निर्माण आदिमानव के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना थी। औज़ार तथा हथियार पत्थर के बनाये जाते थे। पुरातत्त्व मानव समाज के अतीत की वह व्याख्या है, जो उससे सम्बद्ध पुरावशेषों के आधार पर की जाती है। पुराविद् धरती के अन्दर मिट्टी की परतों में छिपी हुई हमारी सांस्कृतिक धरोहर एवं अवशेषों को बाहर निकालते हैं। ज़िला सिरमौर के सुकेती, पौंटा-साहिब व शिवालिक के इस क्षेत्र के अन्य भागों में मिले

पाषाण युग के औज़ार तथा लाखों वर्ष पुराने जीवाश्म (फासिल्ज़) इस क्षेत्र का पुरातात्त्विक महत्त्व सिद्ध करते हैं। यह पुरावशेष ज्योलॉजीकल सर्वे ऑफ इंडिया द्वारा यहाँ बनाए गये सुकेती फॉसिल पार्क में रखे गए हैं।

भाषा एवं संस्कृति विभाग के पुरातत्त्व दल द्वारा सिरमौर जिला में कुछ ऐसे क्षेत्र खोजे गये हैं, जिनकी सतह पर मिली सामग्री इस क्षेत्र के सम्भावित आर्किलोजिकल साईट में होने का संकेत देती है। नाहन से 28 किलोमीटर दूर भीरपुर कोटला व कलोह नामक स्थान पर एक विशाल क्षेत्र में प्राचीन मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े (पोटरी पीसिज़) ईंटें, पक्की मिट्टी की ईंटों के ढाँचे, मंदिरों के अवशेष प्राचीन कुएँ व कब्रें पाई गई हैं, जो स्पष्ट संकेत दे रही हैं कि यह स्थल पुरातत्त्व महत्त्व के हैं। मनुष्य के इतिहास की अनेकानेक गुत्थियाँ यहाँ धरती की परतों में छिपी हैं। वैज्ञानिक खोज व उत्खनन से प्रकाश में आने की सम्भावना है।

सिरमौर क्षेत्र की इस महान धरोहर को बचाने हेतु ज़िला सिरमौर के मुख्यालय नाहन नगर में एक पुरातत्त्व संग्रहालय की स्थापना अति आवश्यक है। इस संग्रहालय में सिरमौर क्षेत्र में बिखरी पड़ी असंख्य पाषाण मूर्तियाँ, काष्ठ-कला कृतियाँ, खोज और उत्खनन द्वारा प्राप्त होने वाली पुरातत्त्व वस्तुएँ, उपेक्षित व खंडित मंदिरों की दीवारों पर नष्ट हो रहे भित्तिचित्र जैसी सामग्री संरक्षित की जा सकती है। जिस प्रकार रंगमहल चम्बा के भित्तिचित्र राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली व राज्य संग्रहालय शिमला में स्थापित व सुरक्षित किये गये हैं। मंदिरों और मठों में पाई गई सामग्री तो तहखानों में वर्षों से खराब हो रही है, जैसे पाण्डुलिपियाँ, राजाओं के हुक्मनामे, प्राचीन वाद्य यन्त्र, अस्त्र-शस्त्र, ताम्रपत्र, मोहरें, काष्ठ-मूर्तियाँ इत्यादि। सिरमौर की प्रबुद्ध जनता व अन्य संस्थाएँ ऐसी सामग्री संग्रहालय में दान देने की इच्छुक हैं। आर्ट सोसाइटी, ललित कला परिषद जैसी संस्थाओं का गठन करके, संग्रहालय की स्थापना व कला वस्तुओं की खरीद हेतु निजी प्रयासों से भी धन जुटाया जा सकता है।

पांडुलिपि के रूप में सांचा ग्रंथ

डॉ. ओम प्रकाश राही

तंत्र-मंत्र एवं ज्योतिष विद्या के अद्‌भुत आकर-ग्रंथ 'सांचा' आज भी पांडुलिपि के रूप में ही प्राप्त होते हैं, जिससे इनकी महत्ता स्वयं सिद्ध हो जाती है। न केवल आकार-प्रकार, बल्कि लिपि की दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीन ये ग्रन्थ 'पावुची', 'भट्टाक्षरी', 'चंदवाणी' तथा 'पंडवाणी' जैसी विभिन्न लिपियों में पाए जाते हैं, जिनका उद्‌भव और विकास भारत की प्राचीन ब्राह्मी लिपि से विकसित हुई शारदा आदि लिपियों के फलस्वरूप हुआ। ये लिपियाँ तंत्र ग्रंथों के प्रणयन के लिए प्रचलित रही हैं और इनमें लिखित सैकड़ों पांडुलिपियाँ सिरमौर, शिमला तथा जोंनसार-बाबर क्षेत्रों में आज भी उपलब्ध हो जाती हैं।

हिमाचल तथा उत्तराखंड के इन क्षेत्रों में इन लिपियों तथा सांचा ग्रंथों का प्रचलन कब और कैसे हुआ? यह जानने के लिए जब हम इतिहास के आईने में झाँकने का प्रयास करते हैं, तो विदित होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी में नटी के शाप से सिरमौर के राजवंश का नाश हो गया था। राज्य के वज़ीर रायमोहण तथा रायगोपाल कश्मीर राज्य की राजधानी श्रीनगर गए तथा राजा कश्मीर से सिरमौर राज्य के लिए 'टीका' (राजा का ज्येष्ठ पुत्र) देने की माँग की। वज़ीर के अनुरोध पर कश्मीर नरेश ने गर्भवती रानी को ही शय्या दान के रूप में दे दिया तथा साथ ही ऋषि, चारण, भाट, कलाकार आदि भी भेजे। *'लोय आणा मंगतु पुरोहित, साथ लोय आणा राय भाट, विक्रमी संवत् साल थी तोदी, 1152 म्हीना माघ'* इस उल्लेख तथा विद्या विचार परक ध्यान वचन *'विद्या सुरी कश्मीरी लगन देख शोधन विचार'* से स्पष्ट है कि यह विद्या तथा इसके जानकार कश्मीर से यहाँ आए। ऋषि पंत के ये वंशज अपने पवित्र आचार-विचार, खान-पान तथा रहन-सहन के कारण ही 'पावुच' कहलाए तथा इन द्वारा प्रयुक्त लिपि 'पावुची' कहलाई। इसी प्रकार पंडा रूप में धर्म कृत्य करनेवाले ब्राह्मणों द्वारा अपनाई गई लिपि 'पंडवाणी', भाट सम्प्रदाय द्वारा

अपनाई गई लिपि और पद्धति 'भट्टाक्षरी' तथा चंदवाणों द्वारा प्रयुक्त लिपि 'चंदवाणी' कहलाई।

मुख्यतः इन्हीं चार लिपियों में लिखित एवं प्रयोग किए जाने वाले सांचा ग्रंथों का हस्तलिखित स्वरूप हमें प्राप्त होता है। ये पंडित सैंकड़ों वर्षों से पुश्त-दर-पुश्त इस विद्या को सहेजे हुए हैं। सिरमौर जनपद के ग्राम खड़काहां में एक ही जाति बिरादरी व गोत्र के पावुच ब्राह्मण रहते हैं। गाँव में चालीस से अधिक घर हैं, जहाँ तीन सांचे मूल तथा छियानवे सांचे गणना करनेवाले हैं। मूल सांचों में सबसे पुराना सांचा विक्रम संवत् 1543 का लिखा मिलता है, जबकि गणना सम्बंधी सांचा संवत् 1704 का लिखा मिलता है। इतना ही नहीं रेणुका तहसील के ग्राम जबलोग निवासी पावुच शिवानंद के पास तो विक्रम संवत् 1211 का लिखा मूल सांचा प्राप्त हुआ है, जो आठ सौ पचास वर्ष से भी अधिक पुराना सिद्ध होता है। इतनी पुरातन पांडुलिपियों को सुरक्षित रखना किसी आश्चर्य से कम नहीं है और इससे इनकी महत्ता भी स्वयंसिद्ध हो जाती है।

इन पावुची विद्वानों के पास अपनी ही रीति से लिखी गइ जंत्री (पंचांग) भी पाई जाती है, जिसे 'चिरी' कहते हैं। पंचांग = पाँच अंग की अपेक्षा इसके तीन अंग होते हैं वार, नक्षत्र और तिथि। यह सूर्य सिद्धांत पर आधारित है तथा सूर्य की मेष संक्रांति यानी बैसाखी इसमें वर्ष का पहला दिन माना जाता है।

न केवल विषयवस्तु, अपितु मूल्य की दृष्टि से भी ये ग्रंथ बहुमूल्य रहे हैं, जिसके लिए एक उदाहरण ही यहाँ पर्याप्त होगा। इन पंक्तियों के लेखक के ताया पंडित बली राम ने लगभग सौ वर्ष पूर्व जो सांचा लिखवाया था, उसका मूल्य 'आठ बीशे' अर्थात् 8 x 20 = 160 चाँदी के रुपए बताया गया है। आज मूल्य निर्धारण करने पर पाठक स्वयं ही इनकी बहुमूल्यता का आभास कर सकते हैं।

विषयवस्तु के आधार पर इन ग्रंथों का प्रयोग मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत के संस्कारों के साथ-साथ रोग निवारण, जादू-टोना व भूत-प्रेत बाधा से मुक्ति, गुप्त प्रश्न फलादेश, सम्मोहन, सम्मूर्छन, मारण आदि के तांत्रिक विधानों में भी किया जाता है। हिमाचल कला, संस्कृति, भाषा अकादमी द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'हिमाचल प्रदेश का प्राचीन तंत्र ग्रंथ : सांचा' में देवराज शर्मा ने 'पावुची लिपि में प्राप्त सांचे' लेख में सांचा ग्रंथ-विषयक सूची में एक सौ उन्नीस विषयों का संकलन किया है, जबकि गराड़ी निवासी पंडित लेखराम शर्मा ने अपने सांचे के तीन सौ ब्यासी पृष्ठों में एक सौ पचीस विषयों का उल्लेख किया है। इससे इन ग्रंथों की विषय व्यापकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। यहाँ कुछेक विषयों का उल्लेख किया जा रहा है।

प्रसूति काल में कष्ट होने पर ग्रंथ में विद्यमान तंत्र का पान करवाकर स्त्री को सरलता से प्रसव कराया जा सकता है। प्रसव उपरांत बच्चे का भविष्य जानने के लिए इस ग्रंथ का फलादेश देखा जाता है। विवाह, गृह स्थापना आदि के लिए

शुभ-बेला तथा प्रश्न फलादेश का विचार भी इस ग्रंथ के माध्यम से किया जाता है। किसी छोटे बच्चे के लगातार रोने पर, जिसे 'रूणीलगना' कहा जाता है, उसके सिर पर 'सांचा' फेरने मात्र से बच्चे को चुप होते देखा व सुना गया है। व्यक्ति विशेष की पीड़ा दूर करने के लिए इन ग्रन्थों में उल्लिखित 'जंत्र' को विधि से तैयार करके पीड़ित व्यक्ति के गले अथवा बाज़ू में बाँधा जाता है। यदा-कदा कागज़ पर लिख कर और पानी से धो कर पिलाया भी जाता है।

किसी व्यक्ति को धीमा विष दिए जाने की स्थिति में 'सांचा' अथवा 'सांचड़ी' के पन्नों का प्रयोग करते हुए जंत्र युक्त धागा बना कर उसके गले में पहनाया जाता है। किसी व्यक्ति, घर अथवा ज़मीन आदि में अहित करने की भावना से अनिष्टकारक सामग्री दबा दी जाती है; उसे ढूँढ निकालने का विधान सांचा ग्रंथ में है। उसके लिए दीपक अथवा तुंबे द्वारा खोज की जाती है, जिसे 'चौली लगाना' कहते हैं। हाथ में तुंबी अथवा दीप लिए वह व्यक्ति मंत्र शक्ति से परवश-सा हुआ खिंचा चला जाता है और कई बार घर-मकान के अतिरिक्त खेत-खलिहान तक भी दौड़ा चला जाता है और अंततः उस स्थान पर तुंबी फट जाती है, जहाँ वह सामग्री दबी होती है। तब सांचा ग्रंथ में प्रतिपादित विधान के अनुसार उसका निदान-समाधान किया जाता है।

सांचा की यह विद्या गणित पर आधारित रहती है, जिसके लिए पंडित 'पाशा' प्रयोग में लाते हैं। जुए के पासे जैसे इस 'पाशा' को सरलता से तैयार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह विद्या शकुन विचार पर आधारित होती है। अतः शकुन विचारक पशु-पक्षियों के अवयवों से निर्मित 'पाशा' ही श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें चारों तरफ 0, 00, 000, 0000, अंक लिखे होते हैं, जो दा, दुआ, त्रीक, चौक पढ़े जाकर एक, दो, तीन, चार के परिचायक होते हैं। पाशे पर अंक लेखन हेतु भी विशेष मुहूर्त की आवश्यकता होती है और इस मुहूर्त को पकड़ने में दिन, महीनों ही नहीं बल्कि कई बार वर्षों तक भी प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

सांचे-पाशे का यह समग्र विधान गणित पर आधारित होता है और तदनुरूप ही सांचे के भीतर लिखा उसका फल पढ़ कर विधान किया जाता है। प्रश्न उलझने की स्थिति में मिट्टी अथवा जल-शोधन द्वारा विचार किया जाता है। मिट्टी-शोधन को '*दुरपट चक्र*', '*धरोटा*' या '*मेट काटना*' कहते हैं, जबकि जल-शोधन प्रक्रिया को '*भुजड़ी तारना*' कहते हैं। सांचा ग्रंथ में वर्णित इस विद्या के जानकार पंडित आज के वैज्ञानिक युग में भी अपनी विशेष पहचान बनाए हुए हैं और उनके पास लोगों का तांता लगा रहता है। कई बार ऐसे रोगी, पीड़ित व परेशान व्यक्ति, जो चिकित्सा विज्ञान से पूरी तरह निराश हो जाते हैं, उनमें इस विद्या के माध्यम से नवजीवन का संचार होते देखा गया है।

सांचा परम्परा : एक परिचय

सी.आर.बी. ललित

हमारा सम्पूर्ण प्राचीन वाङ्मय श्रुति और स्मृति के आधार पर सुरक्षित रहा है, जिसे कालांतर में लिपिबद्ध किया गया। वैदिक एवं पौराणिक साहित्य को लिपिबद्ध करने का अधिकांश कार्य गुप्त काल में हुआ, जिसे हम भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल भी कहते हैं। उससे पूर्व भी इस क्षेत्र में छुट-पुट लेखन कार्य होते रहे हैं, जिनके अभिलेख भोजपत्र के पन्नों या रेशम की पट्टिकाओं की नश्वरता के कारण आज तक सुरक्षित नहीं रह पाए हैं। इतिहास साक्षी है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में कौटिल्य द्वारा लिपिबद्ध किया *अर्थ-शास्त्र* नामक ग्रंथ प्रस्तुत किया गया था। हम वैदिक देव ब्रह्मा को अपना आदि लेखक और महर्षि बाल्मीकि को आदि कवि मानते हैं। आशु-लेखन की परम्परा को हम अपने प्रथम आशुलिपिक गणेश से सम्बद्ध करते हैं, जिनकी श्रुतिलेखन में प्रवीणता से महर्षि व्यास स्वयं आश्चर्य-चकित रह गए थे। पौराणिक देवी सरस्वती को हम लेखन व चित्रांकन समेत समस्त ललित कलाओं की अधिष्ठात्री देवी मानते हैं।

आज उपलब्ध प्राचीनतम अभिलेख हमें मौर्यकाल में उत्कीर्ण किए गए अशोक महान के शिलालेखों से प्राप्त होते हैं, जिन्हें देश के विभिन्न क्षेत्रों में ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लिपियों में लिखा गया था। इन शिलालेखों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि लेखन कार्य में उस युग तक आते-आते हमारे विद्वान प्रवीणता प्राप्त कर चुके थे। ये शिलालेख भाषा एवं लिपि के उत्कृष्ट उदाहरण हैं और लेखन कला को इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते अवश्य ही सहस्रों वर्ष लग गए होंगे। अतः यह धारणा कि वैदिक एवं पौराणिक काल में निर्बाध गति से आर्ष साहित्य लेखन की परम्परा इस देश में रही है, सत्य प्रतीत होती है। अशोक महान की अनेकानेक उपलब्धियों में से एक यह भी रही है कि उन्होंने प्रस्तर स्तम्भों एवं शिलाखंडों पर अपने राज्यादेश उत्कीर्ण करवाए।

भारत के उत्तरीक्षेत्र में जो सबसे बड़ा अशोककालीन ब्राह्मी का शिलालेख मिला है, वह सिरमौर की प्राचीन राजधानी कलसी में भारतीय पुरातत्त्व विभाग के संरक्षण में है, जिसके समीप ही तीसरी शताब्दी ई. में यहाँ के दिग्विजयी सम्राट सलिल वर्मन (जिनका वंश अब चम्बा रियासत में है) के अश्वमेध यज्ञ की वेदिकाएँ भी भारतीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा उद्घाटित एवं संरक्षित की गई हैं। इसी क्षेत्र में सांचा परम्परा के अंतर्गत प्राचीनतम अभिलेख लिपियों का आज तक जीवित रह पाना इनके महत्त्व को और बढ़ा देता है।

ब्रह्मा के पुत्र कश्यप ऋषि ने कश्यप मेरू अर्थात् कश्मीर की घाटियों में तपस्या की, जिसका तात्कालिक विस्तार वर्तमान हिमाचल तक था। कश्यप ऋषि के पुत्र ऋषि मारीच की यज्ञशाला आज भी सतलुज नदी-घाटी में देव मरीचक मंदिर के रूप में अवस्थित है, जहाँ उस समय सम्भवतः उनका आश्रम रहा होगा। ऋषि मारीच के पुत्र मार्तण्ड (सूर्य) को किरण क्षेत्र (उत्तराखंड) के वर्तमान जोंनसार, चौपाल, रोहड़ू, जुब्बल के पब्बर पार क्षेत्र तथा सिरमौर के शिलाई क्षेत्र का स्वामी माना जाता है। यह किरण क्षेत्र सूर्यसुता यमुना एवं तमसा नदियों का उद्गम क्षेत्र है, जो प्राचीन सिरमौर रियासत का भाग रहा है और आज भी हिमाचल तथा उसकी दक्षिणी सीमा पर स्थित है। पौराणिक नदियों के क्रम में गंगा के पश्चात् पश्चिम की ओर यमुना, तमसी (तप्ती) सरस्वती, शतद्रू (सतलुज) विपाशा (व्यास) परूषणी (रावी) तथा सिंधु आती हैं। सांचा परम्परा यमुना तथा विपाशा के जलागम क्षेत्र में ही विकसित हुई प्रतीत होती है, क्योंकि आज की पावुची, चन्दवाणी, पण्डवाणी, तथा भट्टाक्षरी लिपियां इसी क्षेत्र में प्रचलित हैं।

सूर्य पुत्र वैवस्वत मनु, जिनका आश्रम तमसा के तट पर मनेवटी में माना जाता है, ने अपने कुल के मानवों के लिए *प्रथम धर्म संहिता* का निर्माण भी इसी क्षेत्र में किया। यह भले ही आज के परिप्रेक्ष्य में अप्रासंगिक हो गयी है; क्योंकि बाद की शताब्दियों में व्यवसाय पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को स्वार्थी पोंगापंथियों ने अपनी आनेवाली पीढ़ियों के लिए सुविधापूर्ण बना लिया। कर्म पर आधारित इस वैज्ञानिक व्यवस्था को, जन्म पर आधारित करके, इसके स्वरूप को पूर्णतया विकृत कर, इसे लोकतांत्रिक समाज के लिए प्रतिकूल बना दिया।

सूर्य के ही दूसरे पुत्र यम ने आर्य को अपने ही परिवार में यौन सम्बन्ध स्थापित करने एवं विवाह करने की परम्परा से मुक्त कराया, जब उन्होंने अपनी बहन यमी के विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार कर उससे अपने हाथ में राखी बंधवाकर सुरक्षा एवं स्नेह का आश्वासन दिया। इन्हीं यम द्वारा विवाह मुहूर्त के सम्बंध में एक सिद्धांत का प्रतिपादन भी किया गया, जिसे सांचा विद्या में '*जमदाड़ा*' अथवा यम मुखोद्धृत सिद्धांत माना गया है। इसका समावेश हिमाचल प्रदेश के शिमला तथा सिरमौर ज़िलों के चूड़धार-गिरिगंगा क्षेत्रों के सांचा ग्रन्थों में ही पाया

गया है। यह देश के अन्य भागों में प्रचलित ज्योतिष ग्रन्थों में नहीं है।

सांचा ग्रन्थ प्राचीन काल से भोजपत्र पर ही लिखे जाते रहे हैं और उसके मंत्र आज भी भोजपत्र पर अंकित कर ही तत्काल प्रभाव दिखाते हैं। इसीलिए इन्हें '*भुजड़ी*' भी कहा जाता है। सांचा ग्रन्थ संचयन अर्थ में ही विशेष प्रकार की पांडुलिपियों के लिए प्रचलित नाम है और स्थानीय विद्वानों के पास मात्र एक सांचा उपलब्ध रहता है, जिसमें रमल विद्या के अनुसार फलादेश निकालने के लिए एक अथवा तीन अंकों वाले कोष्टक होते हैं। इसमें ज्योतिष ज्ञान का संचयन होता है और कुछ आवश्यक तंत्र-मंत्र-यंत्र जोड़ दिये जाते हैं, जिनका सामान्य भूत-पिशाच अथवा रोक-टोक निवारण में प्रयोग किया जाता है। वास्तव में सांचा ग्रन्थ के कई प्रकार हैं, जो बड़े-बड़े गुरुकुलों में उपलब्ध रहे हैं। इनमें चूड़धार क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले खड़काहां, भटेवड़ी, मनयोटी, सिद्धयोटी, खादर गुम्मा (रोहड़) तथा कुल्लू, कुमारसेन आदि गाँवों के सांचा ग्रंथ प्रमुख हैं। इनके प्रकार निम्नलिखित हैं

उगताई का सांचा

इस सांचा में विभिन्न खगोलीय पिंडों व ग्रहों के परिक्रमा पथों को आधार मानकर पंचांग (जंत्री अथवा स्थानीय भाषा में चिरी) के निर्माण की प्रक्रिया से सम्बद्ध ज्ञान रहता है, जो मात्र सैद्धान्तिक होता है। इस उगताई सांचा के अन्तर्गत मूल नक्षत्र का निर्धारण करने के लिए विभिन्न गणितीय सूत्रों का समावेश किया गया है, किन्तु इसके अतिरिक्त हज़ारों वर्षों की तपस्या एवं अनुभव के आधार पर कुछ अन्य गुप्त संकेत भी रहते हैं, जिन्हें मूल नक्षत्र यंत्र अथवा '*मुलादु*' तैयार करते समय प्रयोग में लाया जाता है। ये गुह्य संकेत मात्र गुरु-शिष्य परम्परा के आधार पर ही आज तक प्रचलन में हैं और गुरु भी इन्हें मात्र अपने प्रधान शिष्य को ही बताते हैं। मूल नक्षत्र की सही वेला के अंक का निर्धारण हो जाने के पश्चात् कोई भी गणितज्ञ विद्वान पूरे वर्ष का पंचांग तैयार कर सकता है।

फलित ज्योतिष सांचा

आमतौर पर फलित ज्योतिष एवं यंत्र-मंत्र का प्रयोग करने वाले स्थानीय ब्राह्मणों के पास मात्र यही सांचा उपलब्ध रहता है। ऋषि विश्रवा के पुत्र लंकाधीश रावण भी रमल विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे। रमल विद्या के आधार पर 'पाशा' फेंककर प्रश्न करनेवाले की जिज्ञासा शांत की जाती है तथा पाशा के निर्देशानुसार दोष निवारण की विधि बताई जाती है। यज्ञानुष्ठान में होने वाले विघ्न, क्लेश, भूत-प्रेत बाधा, छाया-छिद्रा-जोगिणी आदि उपद्रव शांत करने के उपाय करवाए जाते हैं। सांचा में 3 अथवा 4 प्रकार के कोष्टकों के आधार पर विभिन्न मुहूर्तों जैसे वास्तु,

विवाह, जन्म, गृह प्रवेश, व्यापार एवं कृषि कार्यारम्भ, नाल छेदन, जातकर्म, चूड़ाकर्म, देवपूजन, विदेश गमन, विद्यारम्भ, देव-भूत-प्रेत बाधाओं के उपाय दर्शाये होते हैं। चन्द तंत्रों एवं यंत्रों का उल्लेख भी रहता है, जिन्हें तात्कालिक तौर पर प्रयोग में लाया जा सकता है। ये तंत्र-मंत्र-यंत्र स्वतः सिद्ध होते हैं और उनके उच्चारण/लेखन मात्र से ही समस्या का समाधान होता है।

भारथा का सांचा

भारथा (वार्ता) अथवा पुराण के सांचा में विभिन्न पौराणिक आख्यानों का संचयन रहता है, जैसे 'शिवत्रेउड' यानी शिव पुराण, 'राम त्रेउड' यानी रामायण, 'कानडू' यानी कृष्ण लीला, 'पण्डवायण' यानी महाभारत, आदि-आदि। इस सांचा को मात्र वर्ष में एक बार पारायण हेतु कोठरी से बाहर निकाला जाता है। इस अवसर पर पावुच ब्राह्मण, जो निरामिष हैं, इसका पूजन करते हैं और भाट तथा पाण्डे (ब्राह्मण) जो आमिष भोजी हैं, बकरी या बकरे की बलि चढ़ाते हैं।

तंत्र-मंत्र-यंत्र का सांचा

यह सांचा अत्यन्त गोपनीय विद्याओं का संकलन है, जिसे गुरुकुल में भी मात्र एक ही परिवार द्वारा सम्भाल कर रखा जाता है और परिवार में बंटवारे की स्थिति में इसका अधिकारी मात्र बड़ा भाई होता है। इसमें ऐसे स्वतःसिद्ध परम गुप्त यंत्र-मंत्र-तंत्र संकलित रहते हैं, जिनकी शक्ति अत्यन्त प्रचण्ड होती है और अनधिकारी ब्राह्मण इसका अवलोकन भी नहीं कर सकते। कुछ तंत्र तो ऐसे भी हैं जिनके प्रयोग हेतु गाँव की सीमा के बाहर गुप्त स्थलों का निर्माण किया जाता है। आमतौर पर सुरक्षित ढंकार में बनी गुफाओं से उनका संचालन किया जाता है।

सांचा ग्रंथ ताम्रपत्रों, भोजपत्रों अथवा हस्त निर्मित कागज़ों पर हस्त-लिपिबद्ध होते हैं। इनके लेखन के लिए 'बान वृक्ष' की जड़ के पास बने खोखर से पुरानी सड़ी लकड़ी निकाल कर मसि अथवा स्याही बनाई जाती है। तवे की कालिख में कुछ स्थानीय सामग्री मिलाकर भी मसि का निर्माण किया जाता है। यह मसि काली होती है। लाल मसि के लिए शिंगरफ को घिस कर घोल तैयार किया जाता है। सांचा के बाहर काकड़ (बार्किंग डीयर) की खाल की ज़िल्द लगाई जाती है, जिसे दुहरा फोल्ड कर बाहर से लाल कपड़ा लपेट कर दुहरे कते सूत के छींके में रखा जाता है। ब्राह्मण इस छींके को जब बगल में लटका कर चलता है तो इसका आकार एक बड़ी रक्तिम बूंद की मानिंद हो जाता है। बूंद को पहाड़ी भाषा में 'चुड़का' कहा जाता है। अतः लोकगीतों में कहीं-कहीं इसे 'चुड़कू' सांचा कहकर भी सम्बोधित किया जाता है।

पाशा

सांचा की अंक विद्या के मर्म को जानने के लिए एक पाशे अथवा 'पासे' का प्रयोग किया जाता है। सबसे पवित्र पाशा श्वेत गरुड़ पक्षी की हड्डी का होता है। मारण, उच्चाटन के लिए उलूक की हड्डी का पाशा उत्तम माना जाता है। हाथी दांत, काकड़ या साही की हड्डी तथा गीदड़सिंगी के पाशे का प्रयोग भी किया जाता है। पाशा आम तौर पर 4.5 से 5.00 सेंटीमीटर लम्बा अस्थिखण्ड होता है, जो चौड़ाई में 0.7 से 1.00 सेंटीमीटर तक होता है। चारों ओर सुन्दर ढंग से बिन्दु के बाहर वृत्त उत्कीर्ण कर 1 से 3 की संख्या अंकित की जाती है। एक को दाव या प्रदाँ, दो को दुआ या द्विकाँ, तीन को त्रेक या त्रिकाँ, चार को चऊक या चतुकाँ कहते हैं। प्रत्येक सांचा के भीतर प्रत्येक कोष्ठक में 3 अंक दर्शाए जाते हैं और इन्हीं को आधार मानकर होर या पाशा फेंक कर प्रश्नकर्ता पंडित अपने यजमान के मंतव्य को जान लेता है और उसका निदान भी बताता है।

लिपि

सांचा ग्रन्थ की लिपि ब्राह्मी लिपि के स्वरूप परिवर्तन के कारण शारदा और उसके पश्चात् वर्तमान स्वरूप तक पहुँची है। भारत की अन्य लिपियाँ भी इस क्रम में विकसित हुई हैं। हिमाचल प्रदेश में राजकाज हेतु टांकरी, व्यापार कार्य हेतु लाहण्डा तथा ब्रह्म कर्म हेतु भट्टाक्षरी का विकास हुआ। भट्टाक्षरी स्थानीय नाम भेद के कारण पावुची, चन्दवाणी, भ्यूंचाणी तथा पण्डवाणी उपलिपियों में परिवर्तित हो गई। भ्यूचाण अथवा विवस्वान कुल के ब्राह्मण सूर्य ज्योतिष को आधार मान कर्म-काण्ड करते हैं। भ्यूचाणी को भट्टाक्षरी के मूल नाम से भी जानते हैं। चन्दवाणी के विद्वान चन्द्र ज्योतिष को आधार मानकर पंडिताई करते हैं। ये दो हिमाचल प्रदेश के प्राचीन गुरुकुल हैं। पण्डवाणी गुरुकुल का मुख्य केन्द्र क्रमशः बलग (ठियोग), भटेवड़ी तथा मनेवटी (चौपाल) और पावुची के मूल गुरुकुल चानणा (चौपाल) और खड़काहां (सिरमौर) में रहे हैं। भूतपूर्व थरोच, घूंड, रतेश आदि रियासतों में इसी कुल के ब्राह्मणों ने अनेक बस्तियाँ बसाईं। चानणा से जाकर ही कालांतर में खड़काहां (सिरमौर) में भी पावुच गुरुकुल की सबसे बड़ी आबादी अस्तित्व में आई।

पावुच यानी पवित्र, वे कश्मीरी ब्राह्मण हैं, जो कश्मीर राजवंश की कन्या का राजस्थान में विवाह होने के साथ ही ज्योतिष कार्य में अपना भाग्य आजमाने राजस्थान चले गए और स्थानीय ब्राह्मणों की देखादेखी निरामिषभोजी होकर अपने को पवित्र कहने लगे। क्योंकि कश्मीर के सभी अन्य ब्राह्मण तो भौगोलिक स्थिति एवं अत्यधिक शीतल जल-वायु के कारण आमिषभोजी ही रहे हैं। बाद में सिरमौर में भाटी राजवंश की स्थापना होने से संभवतः उनके पुरोहित के तौर पर इस वंश के

पंत नामक ऋषि सम्वत् 1152 विक्रमी (सन् 1095 ईसवी) में कुशलवाड़ा (शायद वर्तमान कुशलगढ़) से सिरमौर में आ बसे थे। हस्त-लिखित ग्रंथ के आधार पर यह स्थान उस समय जैसलमेर रियासत के अन्तर्गत आता था।

सिरमौर की रियासत का विस्तार तब पूर्व में गंगा तक, उत्तर में नोगढ़ी (रामपुर-बुशहर) तक था। कालका, यमुनानगर, अम्बाला, देहरादून, सहारनपुर आदि क्षेत्र तो मुगलकाल के आखिरी दिनों तक सिरमौर रियासत के अंतर्गत रहे हैं। ये पावुच कालांतर में चानणा व झीना (वर्तमान तहसील चौपाल, जिला शिमला) में भी आकर बस गए। झीना के कंवर के यज्ञ में दो पावुच ब्राह्मण नरपत व पूरण भी ब्रह्म-कर्म हेतु आमंत्रित थे। उनके भोजन में भात की थाली में दबाकर मांस के टुकड़े डाल दिए गए। बड़े भाई नरपत ने पहला ग्रास खाया तो इस बात का पता चल गया और उसने अपने छोटे भ्राता पूरण को थाली में परोसा वह अन्न ग्रहण करने से मना कर दिया। अतः बड़ा भाई भोटू (मांसाहारी) हो गया और छोटा पावुच बना रहा। लेखक स्वयं पौड़िया (चौपाल) के आमिषभोजी यानी भोटू वंश से सम्बंधित है। पंत ऋषि की प्रारम्भिक वंशावली निम्न प्रकार है
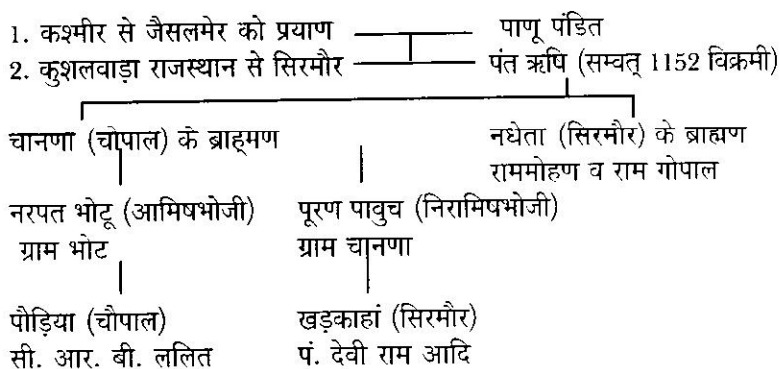
भोटू ब्राह्मणों की बस्तियाँ भोट (झीना), पोड़िया, चफलाहां, हरणाहां, कोटी (चौपाल), ज़िला शिमला, खड़काहां (सिरमौर) तथा फेड़ज (ज़िला देहरादून) में व पावुचों की चानणा (चौपाल) घुरौत, जबलोग, बागनल, डिमिच, तिलूरव में हैं। उन्हीं के उपवंश भरोपटों की बस्तियाँ कटोरी तथा चौपाल में स्थापित हुईं। इन्हीं पावुचों के गुरुकुल में चौपाल व सिरमौर के खदराई तथा अनेक अन्य ब्राह्मणों ने विद्यार्जन किया, किन्तु पावुच आज भी बड़े भाई के वंशज भोटू ब्राह्मणों को गुरु का दर्जा देते हैं।

इस कुल का विस्तृत विवरण इसलिए आवश्यक जान पड़ा कि खड़काहां ग्राम में इनके पास अब प्रकाश में आयी सबसे प्राचीन पांडुलिपियाँ सुरक्षित हैं। इसमें

प्रमुख हैं रामदिया का सांचा, जिसे संवत् 1666 मास चैत्र गते 12 (शुक्रवार) को पुष्य नक्षत्र की 27 घड़ियों के मुहूर्त में पूर्णमासी के दिन पूरा किया गया था। अब इससे भी पुराना सांचा, जो 1211 ईस्वी का है रेणुका क्षेत्र के जबलोग गांव में पं. शिवानन्द के घर में उपलब्ध है। एक अन्य सांचा विक्रमी सम्वत् 1603 में कार्तिक प्रविष्टे 20 (चन्द्रवार) को अनुराधा नक्षत्र की 60 घड़ी वाले मुहूर्त में नवमी तिथि को पूर्ण हुआ। सूरदास सुपुत्र छ्णी द्वारा लिखित उगताई (पंचांग) का सांचा भी इसी खड़काहां ग्राम में सुरक्षित है। नरपत (भोटू) व पूरण (पावुच) द्वारा लिखित सांचे की एक प्रति कुमारसैन, ज़िला शिमला से प्राप्त हुई है, जिससे इस वंश के सतलुज घाटी में होने का प्रमाण मिलता है। सांचा विद्या चौपाल और सिरमौर के इलावा बुशहर, करसोग, कुल्लू तथा उत्तर प्रदेश के जोंनसार बाबर, उत्तरकाशी, गढ़वाल और कुमाऊँ क्षेत्रों में भी आज तक प्रचलन में है। इनके अतिरिक्त मनेवटी (किरण-चौपाल) में सहदेव पांडव का ताम्रपत्र पर अंकित परम गुप्त सांचा और यहीं पर आसू पांडे का, बज्रोठ (चौपाल) में पंडित देवी राम का, बरोट (हाटकोटी) में पंडित शंकर का, महाराहा में पं. मोतीराम दीपटा का और सराहां मंदिर (चौपाल) में फेड़िया का सांचा उल्लेखनीय हैं।

विवस्वानी तथा चन्दवाणी लिपियों के गुरुकुल स्थानीय पहाड़ी ब्राह्मणों की श्रेणी में माने जाते हैं, जिन्हें पहाड़ी में भाट या भट्ट कहा जाता है। इनकी बस्तियाँ हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड के गढ़वाल व कुमाऊँ क्षेत्रों में हैं। यह साधारणतः आमिषभोजी हैं। पंडवाणी सांचा विद्या के विद्वान अपने आपको पाण्डु पुत्र सहदेव का वंशज मानते हैं और पावुची विद्या के विद्वान स्वयं को कश्मीर के पाणु पंडित के उत्तराधिकारी कहते हैं।

सांचा परम्परा की प्राचीनता

स्थानीय परम्परा के अनुसार सांचा विद्या का प्रचार रामायण काल में भी रहा है। जव दशरथ के संतान नहीं हो रही थी तो उन्होंने अपने मंत्रियों को आदेश दिया कि वे तीर्थों से विद्वान ब्राह्मणों को बुलाकर लाएँ। ब्राह्मणों ने सांचा के माध्यम से गणित विद्या का प्रयोग किया

गौणो खोज़ो बामणी ज़ी सांचे रै हयाओ
कियों विदिए कियों विदिए मेरे अंश वंश रह जाओ
सांचा हेड़ा बामणे खोलणा लाए
बेद हेड़ा बामणे विचारणा लाए
सांचा खोलौ बामणौं विद्या बोलौ कल्याण
तांदो लागो जसरता जनैती को पाप

राजा बोलो जसरतौ मनौ के हियाऔ
कियौ बिधी कियौं मेरो अंशवंश रहयाऔ

अर्थात् दशरथ पूछते हैं- विप्रवर! आप सांचा ग्रंथ के माध्यम से गणित की खोज कर बतलाएँ कि किस विधि से मेरा अंश-वंश कायम रह सकेगा ? ब्राह्मण ने सांचा ग्रंथ खोल वेद का विचार किया और कहा कि दशरथ राजा तुम्हें तो जनेती का पाप लगा है, उसका निवारण हो जाए तो संतान अवश्य होगी।

कृष्ण लीला में भी सांचा ग्रंथों का वर्णन निम्न प्रकार से दर्शाया गया है
गोकुलरो ज़बे रै पंडता नगरी काछौ उदे छाड़े और सांचटे पाए
सौदा माता तबे पुछौ ले पंडता देवतैफै केथु तुएँ
रौए औ गोकुलो खै आए
माइचौ रा तैरा देवतिऐ पुरोहित राशि इथा रौआ खोजदा आए।

अर्थात् पंडित गोकुल नगरी के लिए बगल में सांचा ग्रंथ लटका कर चल पड़ा। यशोदा माता पूछती है कि हे ब्राह्मण देवता! आप गोकुल में क्यों पधारे हैं? विप्र ने फिर यशोदा माता को अपना मन्तव्य बताया कि मैं तुम्हारे मायके का ब्राह्मण (तुम्हारे पुत्र की) राशि खोजने आया हूँ।

चूड़ेश्वर शिरगुल के पिता राजा भुखड़ू, जो राजगढ़ (सिरमौर) के शाया नामक क्षेत्र पर राज करते थे, वे भी संतान न होने पर कश्मीर के पाणू पंडित के पास गए और पंडित ने उन्हें परामर्श दिया कि वे एक ब्राह्मण बालिका से विवाह रचाएँगे तो उनके संतान अवश्य होगी

गणौ खोज़ो पाणु बामणौ गौणौं सांचै रे ताऔ
गर्भै हंदा तेरी राणी रे बालकौ चावलौ रै देऊ दाणटै हांऔ
आखरौ छाड़ौ पाणु चावलौ रे हाथो रे पड़े चावलौ रे जोरे
गौणौ खोजौ पाणु पंडतौ पाशे री बोलौ ली होरो।

अर्थात् पाणू पंडित ने सांचा ग्रंथ के सहारे गणित के साक्ष्य से कहा कि हे राजन् ! तुम्हारी रानी के गर्भ ठहर जाएगा, मैं तुम्हें चावल के दाने देता हूँ। मेरे हाथ में इतना बल है कि चावल के दानों से ही मनेच्छा पूर्ण हो जाएगी, ऐसा मेरे पासे की होरें बतलाती हैं।

सांचा का स्वरूप क्या है? इसमें किन-किन पद्धतियों, मंत्रों-तंत्रों और यंत्रों का संचयन है, इस विषय पर क्षेत्र से बाहर के विद्वानों को भनक तक नहीं लगने दी गई है, क्योंकि इस परम गुप्त विद्या को इसके विद्वान मात्र अपने गुरुकुल से सम्बंधित विद्वानों एवं विद्यार्थियों के अतिरिक्त किसी बाहरी व्यक्ति से सांझा नहीं करते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी के हाथ में उसके गुरु द्वारा दिया गया हस्तलिखित ग्रंथ होता है और गुरु के सान्निध्य में ही वह ग्रंथ की एक प्रति अपने हाथ से लिखकर

दीक्षा प्राप्त कर वेद, ज्योतिष, यंत्र, मंत्र व तंत्र का अधिकारी बन जाता है। इस प्रति में मात्र फलित ज्योतिष व अन्य आवश्यक विधि-विधान होते हैं।

मंत्र व यंत्र श्रुति-स्मृति परम्परा के आधार पर ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी सिखाए जाते रहे हैं, ताकि वे किसी अनधिकारी द्वारा प्रयोग में न लाए जा सकें। प्रमुख यंत्रों के पत्तरे भी सांचे से अलग ही रखे जाते हैं, किंतु कुछ का समावेश सांचा में भी रहता है। जब तक इन मंत्रों-यंत्रों के लिखने की सामग्री यानी कागज़, भोजपत्र, धातु अथवा चमड़ा, स्याही में बान, केसर, गोरोचन अथवा रक्त और कलम में बाँस, तुलसी, काथी अथवा अस्थि का ज्ञान न हो, जो लिखित ग्रंथों में उपलब्ध नहीं रहता, तब तक ये अपना प्रभाव नहीं दर्शा सकते। खड़काहां सिरमौर के पंडित देवी राम पावुच के देवनागरी में हस्तलिखित सांचे के आधार पर सांचे के स्वरूप के विषय में कतिपय जानकारी निम्न प्रकार से है

सांचे की ज़िल्द पर इप्ट देव-देवी का आह्वान कर पाशे की तीन होरें दी जाती हैं, उन्हीं के आधार पर व्याख्या की जाती है। किसी मामले में एक होरा से और किसी में तीनों होरा का योगफल निकालकर जो अंक बनें, उसके आधार पर गणना व फलादेश दिया जाता है। कुछ उदाहरण निम्न दिये जा रहे है

1. (333)(111) से (444)

त्रिकां-त्रिकां-त्रिकां तु चैबो : सरगुणी पति ता तबं समा प्रति यती कलपणी समा प्रति मुक्ति तंत्र पर जायत तत्र गृह देक्षिण सिधि संफल भवे खंती सिध्यति पूजये तू शकरों देवा थान क्रति विपत दुहि आसन वर्जते यदि निसफल भवे पुत्र चतु दुश्यति तथाई।

2. (111) से (444) तक

(124) (8) प्रदां द्वि,का चतुकां-तु चैबो : गुह छिद्र डंकणी दुख आप छाया दुखः (1) से (4)

3. (4) चतुर्कां-तु चैबो : सेतु उच जाती डंकणी पीड़ा धन क्षय अर्थ धन क्षय अर्थ नाश तत्र श्रियं भवी खंतोः इतिः एक पाप्टी होर पूरी।

4. (1) से (4)

प्रथम पहिरः चण्डी देवी का दुख है। देही शांवली आख काणी समफला हाथ फलो खादे दुप्टा भई एक पाप भी होला।

5. (1) से (64)

(3) ये काज पऐ नारी न सिझे सिंग दोपर छाना न रहे सीग उत्तम पुरुप है ये काज भला न देखे चिंत 2 आयों उत्तर दिशा का दो वृक्ष लंगदो है सि काली वास्तु आणी थी पछिम दिशा पाणी ते डरायों तरों दावें अंगे चिनु वसो होलाः ये जो काज मन सिद्ध होवे जी सिंह राहू मर धन मित्र उत्तम पुरुप मिलना तव सिझला संग किरिया सिकाज सिझे एपु काज त्रला न देखु सि पूजा मांग दो सि शत्रु हारे उत्तर दिशा काटो वृक्ष

सि तेरे घर पछिम दिशा पाणी सि ताही दूर पूजा मांगदो सि तेरे पराओचिनु सि तो जाणी ज्ञान सचो सिः।
6.(1) से (20)
(5) पांडु देवता साचो बुलांदा सि जो तेरे मन भागरे होला पर तेरा भाग बड़ा सि मन चिंता कार्ज होली सि कार्ज करी संतोष होला सि काज करी बड़ा दुःखा सि तंधुरे देव की चिंता करिया सि पूजा करी लाभ होला सिः।
7. (1) से (12)
(4) चौसठ जोगणी यो बुलंदी है कि तेरी देही में आगम कांत्री लगी है कि छिद्र पूजा देणी तवे भवी शुभ होला मसाण की दृष्टा लगी पूजा करि सुख होला ताते श्रियो भवि खंतिः।
8. (1) से (12)
(6) कन्या लग्ने ईचों संखणी दुख बाह्मणी शखणी नमी भवी पीड़ा सर्वोदर ईचों पति बंधु, पूजा कर पर कृत्वा सम परावती सत वचन किरिया प्रभाते पूजि ततो श्रियो भवी खंतीः।
9. (1) से (12)
(6) कन्या लग्ने अर्थमान रिषी पूछे कि खतरी होला भये पुन वाल वसत काज किया रुत भान सुख उपजेः।
10. (1) से (12)
(8) बिछ राशि करते पाप पहिले जन्में चकवा-चकुरी होवेः दुजे जन्मे ब्रह्मण होवे, तीजे जनमें कृष्णा का औतार होवे, चौथे जन्मे सिंघ का औतार होवेः पाँचवे जन्मे कीड़ा पतंग्णी होवे, छटे जन्मे कलवाल या ऊँट होवे, सातवें जन्मे भागमती स्त्री होवे सि पाप काल में छपे ब्राह्मण पूजा भोर्जन कांसा तांबा कृष्ण वर्ण गौ दान दीजे तो शुभ फल होवेगा।
11. (1) से (12)
(8) बिछ राशी जदा सथान हिर्ण सर्प का वाहन अगिन त्रमा पूर्व छया ब्राह्मण गोत्र हत्या देव अगिन दृश्यति उत्तर पूर्व बसंता उलास जंताः।
12. (अअअ) से (अअब) (अअज) से (ददद) = 64
पूछ हार पुरुष तू दोनों कान खोल कर सुणिए जी तेरा गुण चिंत करी लक्ष्मी मिलेगी पर कल भय होता चिंता नहीं भली होवे तेरे शरीर में क्लेश है भाई बंधु से विरोध रहता है जो मन में कारज विचारा है सो होगा मन इच्छा पूरी होगी।
13. (अकार) (आकार) (क्षकार) तक = 51
(शकार) (47) विष्णु चिंता भवे चेव तु जायते चिंता रोगण स गृहा जायते तथा अचिंत का अचिंत सर्व सिंधु कार्शो पुरुष पाप भवे चेव गल रसा निच हत्या दुख दृश्यतिः।
14. (1) से (15) व (30)

(14) चौदसी पछिम दिशे का दुख पाप कन्या स्त्री उपचते पीड़ा।
15. (1) से (7)
(5) जीव वारे जो दुख लागे सा गृहणी देवी का दुख लागे अन दूध खादे दृष्टा भई आंक के पात की भोज के पात माने वल देजी पीता वर्ण नाग कर्णा तव वल देणी पीड़ा होर दिन दुईः।
16. (1) से (9)
(7) शनी तु हत्या दुख ब्राह्मण हत्या तु दृश्यति पराये कार्ज खुन पुन लाभ कर्णा तु दृश्यति कांसा पात्र कर धर्म दाण टास के भूमी दाता लखु देणा पाप पूजा करतव्यं तत्र भवि खंतीः।
17. (1) से (8)
(2) अग्नि दिशा काला वस्त्र मिला दाहिणे हाथे काचन हुआ शब्द करा तेरे कार्ज निशफल मिटि का आवण कुछ ता तेरा काज निशफल ब्राह्मण स्त्रि रोगी दिशा जी।
18. (1) से (54)
(23) धकारे कार्य सिद्धि च लभते शुभ प्रदा सुभ भाग कल्याण च प्रजायते। (1) भला मानुश भेटे तो भला कि नहि सत कहो जी।
19. (1) से (8)
(5) ये सू ठाकुर वारी जाए तो मत जाउण जी।
20. व्याह को वास्त।
21. बार टूटने का विचार मंगसिर। मंग फागुण चैत-वैशाख मास चार।
22. बालक जाणे के लग्न का सगुन (1) से (12)
(6) कन्या लग्ने बालक जाए तो शिर पंछिम को माथा दखिण पिता घर पर नहीं जन्म ते बालक ने आधा शब्द किया अस्त्रि 7 दाई स्त्रि मिल के पीछे आई पिनाने पीला बस्तु खाए दिवा सन्मुख थिया बाये अंग बालक के नाल धरो होय उठे वेग पुत्र रोय पांच त्रिया भीतर घर में दोउ ओर लेख एक एक त्रिया कन्या को लिए फरे वस्त्र वर्तन या घर तीने पहिणे वीच जननी को कष्ट होय पिता के बीच में।
23. (1) से (12)
(6) कन्या में बालक जन्मे तो काने हीण होवेगा।
24. ग्रहशांति यंत्र।
25. विवाह मुहूर्त।
26. हल जोतने/बीज बोने/ उगाहने अन्न भण्डारण के मुहूर्त।
27. बाग विचार।
28. छींक स्फूरण, स्वप्न आदि का विश्लेपण।
29. तात्कालिक तौर पर प्रयोग किए जाने वाले यंत्र।
30. अपने यजमानों के बालकों को जन्म कुंडलियाँ।

आम मान्यता है कि सांचे की लिपियाँ ब्राह्मी से निकली शारदा लिपि से स्थानभेद के कारण अलग गुरुकुलों में अलग-अलग स्वरूप में विकसित हुई हैं। सांचा पर पाशे की हरेक होरा या हर तीन होरों का क्रम अथवा योग रमल परम्परा के अनुसार जातक या प्रश्नकर्ता की जिज्ञासाओं और मनःस्थिति का विश्लेषण कर उनका समाधान प्रस्तुत करती है। इसमें गणितकर्ता का अपना अनुभव और विश्लेषण भी प्रमुख घटक होता है। जितना बड़ा ब्राह्मण विद्वान होता है उतना ही सटीक समाधान हो जाता है। इसमें मनोवैज्ञानिक तत्त्व का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है।

संदर्भ

1. भारतीय प्राचीन लिपि माला 8, पं. गौरी शंकर हीरानन्द ओझा, मुंशीराम मनोहर लाल, नई दिल्ली
2. पं. देवी राम ज्योतिषी खड़काहां (सिरमौर), हिमाचल प्रदेश का हिन्दी सांचा
3. स्व. पं. तुलसी राम, ग्राम मंढोचली, तहसील चौपाल का पंडवाणी लिपिवद्ध सांचा
4. पं. देवी राम, ग्राम मणेवटी, तहसील चौपाल (शिमला) का पंडवाणी लिपिवद्ध सांचा
5. स्व. पं. देवीराम, ग्राम वजोट, तहसील चौपाल (शिमला) का भ्यूंचाणी (विवस्वानी) लिपिवद्ध सांचा
6. पं. नरपत व पूर्ण का कुमारसैन (शिमला) से प्राप्त पावुची लिपिवद्ध सांचा
7. अशोक के अभिलेख, डॉ. राजवली पाण्डेय (वाराणसी)

हिमाचल के सांचा ग्रंथ और लिपियाँ

डॉ. तुलसी रमण

हिमाचल प्रदेश के शिमला और सिरमौर जिलों तथा उत्तराखंड के जोंनसार-बाबर आदि क्षेत्रों में तंत्र-मंत्र-ज्योतिष, कर्मकांड, आयुर्वेद और लोकगाथा काव्य आदि की परम्परागत पोथियों को 'सांचा' कहा जाता है। 'सांचा' का अभिप्राय लिखित पत्रों का संग्रह तथा विद्या-विधान के संचयन अर्थ में लिया जाता है। इन सांचों में लोकप्रचलित तंत्र-मंत्र एवं आयुर्वेद सम्बंधी उपचार की विधियों के साथ ज्योतिष के गणित एवं फलित दोनों पक्ष रहते हैं। लोकरामायण, पंडवायण तथा अन्य गाथागीत भी कुछ पोथियों में लिखित मिलते हैं। कुल मिलाकर लोक व्यवहार में आने वाली अनेक विधाओं का ज्ञान इन सांचों में अंकित रहता है और इनके विद्वान पीढ़ी-दर-पीढ़ी इन पोथियों के आधार पर अपनी पंडिताई चलाते रहे हैं। इन सांचों में संगृहीत ज्ञान पर ही ये परम्परागत विद्वान ज्योतिषी, वैद्य, तांत्रिक और उपाध्याय शास्त्रीय तथा लोक विधियों को एक साथ व्यवहार में लाते रहे हैं।

सांचा की विद्या और इसका व्यवहार एक भू-खंड विशेष में ही अधिक रहा है। चूड़धार के आर-पार सिरमौर जिला के कई गाँवों के साथ, शिमला जिला के चौपाल, ठियोग, कुमारसेन तथा रोहड़ू क्षेत्रों में भी सांचा विद्या के विद्वान रहे हैं। ये सभी क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से परस्पर जुड़े हैं। उत्तराखंड का जोंनसार-बाबर का क्षेत्र स्वतंत्रता पूर्व सिरमौर रियासत का ही भाग था, इसलिए सदियों पहले सांचा के विद्वान वहाँ जा बसे थे। तभी से उत्तराखंड के इन पहाड़ी क्षेत्रों में भी सांचा विद्या का चलन आज तक है।

वास्तव में सांचा विद्या कुछ पंडित परिवारों की विरासती विद्या रही है। इनके वंशज जहाँ-जहाँ जा बसे इस विद्या का प्रसार भी इनके साथ होता रहा। आज ये सांचा ग्रंथ *पाबुची, भट्टाक्षरी, चंदवाणी* और *पंडवाणी* इन चार लिपियों में उपलब्ध होते हैं। ये लिपियाँ कश्मीर में प्रचलित शारदा लिपि के मूलाधार से

विकसित हुई हैं। इन लिपियों और पंडितों के वंशों के आधार पर सांचा ग्रंथ भी चार प्रकार के माने जाते हैं।

हिमाचल प्रदेश के इन क्षेत्रों में इस विद्या के आने और प्रसार पाने की पृष्ठभूमि में कुछ दिलचस्प ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जिनका उल्लेख सबसे प्राचीन सांचा ग्रंथों में ही मिलता है। लोकवार्ता के अनुसार ऐतिहासिक घटना है कि सिरमौर के राजा की उपस्थिति में नटनी की हत्या होने के कारण उस नटी के शाप से सिरमौर राजवंश का अंत होने पर 11वीं सदी में राजा के वज़ीर रायमोहण और रायगोपाल कश्मीर नरेश के श्रीनगर स्थित दरबार में गए। उन्होंने कश्मीर नरेश से निवेदन किया कि सिरमौरी राजा का वंश समाप्त हो गया है, अतः अपने टीका (पुत्र) को वहाँ का शासन आगे चलाने के लिए दान में दें। कश्मीर नरेश ने सारा वृत्तांत सुनने के बाद अपनी गर्भवती दूसरी रानी सुमित्रा को सिरमौर रियासत के लिए शैयादान के रूप में दिया और सिरमौर के वज़ीर रानी को सम्मान पूर्वक अपने साथ ले आए। कश्मीर के राजा ने कुछ कश्मीरी पंडित, भाट, वैद्य, कलाकार और सेवक भी रानी के साथ भेज दिए।

यह घटना विक्रमी संवत् 1152 की है। राय भाट (भट्ट) जैसे विद्वान 11वीं सदी के अंत में कश्मीर की रानी के साथ सिरमौर आ गए थे और कुछ कश्मीरी विद्वान जो कश्मीर की राजकुमारी का राजस्थान में विवाह होने पर, उनके साथ जाकर पहले राजस्थान में थे, वे भी पहाड़ी क्षेत्र जानकर सिरमौर चले आए। वे राजस्थान के समाज में रहकर भोजन आदि आचार-व्यवहार में सात्त्विक हो गए थे, अतः पुनः पहाड़ पर आकर पवित्रता के अर्थ में पावुच कहलाए। ज़ाहिर है ये सभी विद्वान अपनी पोथी-पत्री, विद्या ज्ञान के साथ ससम्मान यहाँ बस गए। कश्मीर में उस समय शारदा लिपि प्रचलन में थी और शैव परम्परा, काव्य शास्त्र तथा तंत्र-मंत्र-ज्योतिष आदि विद्याओं के लिए कश्मीरी पंडित भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रख्यात थे।

इस इतिहास प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है कि इस सांचा विद्या का मूल केन्द्र कश्मीर रहा है और जिन चार लिपियों में ये सांचा ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, वे कश्मीरी शारदा लिपि से निकली तात्कालिक लोक व्यवहार की लिपियाँ हैं। लेकिन अब ये लिपियाँ 11वीं सदी से लेकर हिमाचल भूमि के इन क्षेत्रों में लोक व्यवहार में होने के कारण लगभग नौ सदियों पुरानी कही जा सकती हैं। इस परम्परा में ये तथ्य भी सामने आते हैं कि सांचा के आरंभ में 'कश्मीरी बाचा' का उल्लेख मिलता है और इस विद्या को व्यवहार में लाने से पूर्व '*विद्या सुरी काश्मीरी लगन देख शोधन विचार*' के वचनों के साथ ध्यान किया जाता है।

कालांतर में इन पंडितों के वंश का विस्तार होने के साथ ये इस भू-खंड के विभिन्न गाँवों में दूर-दूर जाकर बस गए। उस समय के समाज में देव पूजा, बीमारियों के उपचार और संस्कार व्यवहार के लिए विद्वान पंडितों का ही आश्रय

रहता था। अतः यहाँ की छोटी ठकुराइयों के शासकों ने इन विद्वानों को अपनी रियासतों के कुछ विशेष गाँवों में सम्मान सहित बसा लिया। ये लोग जहाँ भी जाकर बसे, अपने सांचा की पवित्रता और गोपनीयता कुछ ऐसे बनाये रखी कि अपनी संतानों के लिए ही सांचों की प्रतियाँ तैयार की जाती रहीं; ताकि उनकी पारम्परिक पंडिताई चलती रहे और सांचा की सम्पदा उन्हीं की बनी रहे। उस समय पहाड़ की छोटी ठकुराइयों में समाज अलग-अलग बंटा रहता था और यातायात व दूरसंचार के साधन न होने के कारण इन विद्वानों की पंडिताई भी कुछ गाँवों या परगनों तक ही सीमित रही। इसलिए कुछ प्रमुख गाँवों में अलग-अलग बसने से इन पंडितों के खानदान या वंश अलग-थलग स्थापित हो गए।

आज भी किसी संकट के समय जब इन पहाड़ी क्षेत्रों के लोग अपने देवता से पूछते हैं तो देवता अपने गूर यानी प्रवक्ता के माध्यम से सबसे पहले यही कहता है कि *'भाटों-पांडे पूछें'* यानी पहले भाट या पांडे को पूछना चाहिए। इस तरह लोक देव संस्कृति में सांचा विद्या के माध्यम से प्रश्न करने की सदियों पुरानी परम्परा है। भाट यानी कश्मीरी मूल के भट्ट पंडित और पांडे ये दो वंशज तो परम्परा से इन क्षेत्रों में बसे हैं। पावुच नाम पवित्रता के अर्थ में ऐसे वंश के ब्राह्मणों को मिला, जिन्होंने पारम्परिक सात्त्विक व निरामिष भोजी की जीवन शैली अपनाए रखी। चौपाल के भटेवड़ी गाँव के भाट चंद्र ज्योतिष के ज्ञान के कारण चंदवाण कहलाये। इस तरह इन पंडितों के ज्ञान के चार वंश और केन्द्र प्रमुखता से सामने आते हैं, जिनके सांचों की चार लिपियों ने भी अलग पहचान कायम कर ली है। इनमें से पावुच अधिकतर सिरमौर के खड़काहां, जबलोग व भगनोल गाँवों में बसे हैं। इनके सांचों की लिपि *'पावुची'* कहलाती है, जिसके वर्ण निम्न प्रकार से हैं
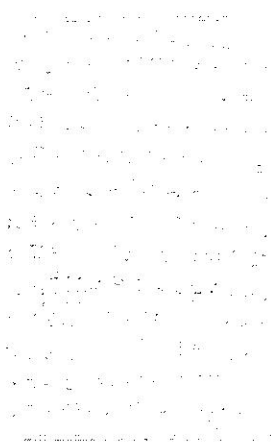
पांडों का प्रमुख केन्द्र ठियोग तहसील का वलग गाँव माना जाता है। ये लोग तंत्र विद्या में निष्णात रहे हैं। इस समय सांचा के विद्वान जो पांडे चौपाल तहसील के मनेवटी व छतरौली आदि गाँवों में बसे हैं और इनके सांचों की लिपि '*पंडवाणी*' है, जिसके वर्ण इस प्रकार हैं—
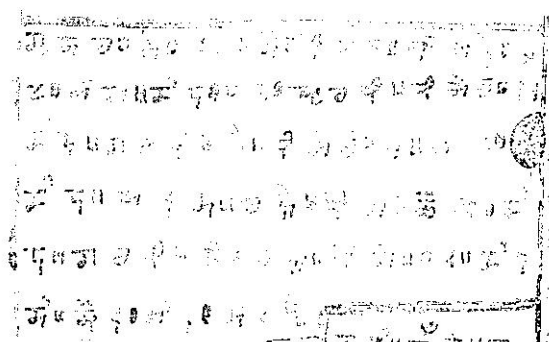
चंदवाण वंश के पंडित चौपाल के भटेवड़ी, थरोच तथा उत्तराखंड के कुल्हा आदि गाँवों में बसे हैं, जिनके सांचों की लिपि 'चंदवाणी' कहलाती है, इस लिपि के वर्ण निम्नलिखित हैं—
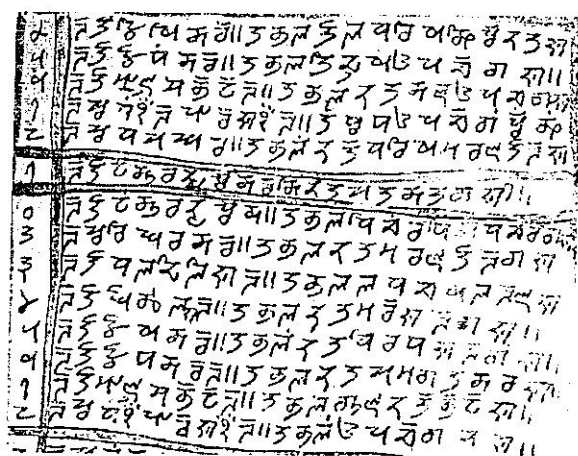
चौथे विभिन्न वंशीय भाट विद्वान हैं, जो सिरमौर के हरिपुरधार, कुणा, बेओग, घटोल और सिद्धयोटी आदि गाँवों में बसे हैं। इनकी लिपि 'भट्टाक्षरी' कहलाती है, जिसके वर्ण इस प्रकार से हैं—
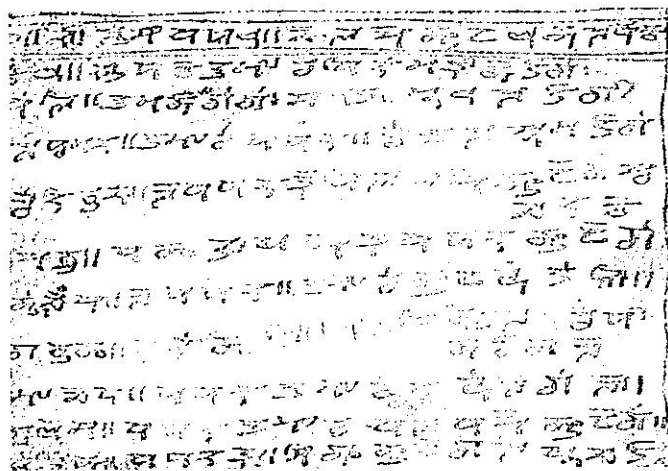
हिमाचल प्रदेश के इन सांचा ग्रंथों में विभिन्न विधाओं का लोक ज्ञान सबसे महत्त्वपूर्ण है। इनमें संचित शास्त्रीय ज्ञान भी लोक व्यवहार में चलन के कारण लोक विधि में समाहित हो गया है। इसीलिए लोगों की परम्परागत सांचा विद्या में आस्था बनी हुई है। आयुर्वेद और तंत्र-मंत्र के कुछ ऐसे सफल देसी नुस्खे भी इन ग्रंथों में मिलते हैं, जो सदियों से लोक व्यवहार में आजमाए गए हैं, लेकिन प्रकाशित ग्रंथों में नहीं मिलते। विद्वानों की असंख्य पीढ़ियों की साधना से अर्जित व्यावहारिक विद्या इन ग्रंथों में है, इस दृष्टि से ये सांचा ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं।

हिमाचल प्रदेश में राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन की योजना के अंतर्गत हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, शिमला में स्थापित पांडुलिपि रिसोर्स सेंटर द्वारा पांडुलिपियों का प्रदेश व्यापी सर्वेक्षण करवाया गया तो सांचा विद्या के लगभग एक हज़ार ग्रंथ पहले दौर में ही मिल चुके हैं। मगर अब समस्या यह है कि इन पंडितों के वंशों में भी नयी पीढ़ी के युवा सांचा विद्या में रुचि नहीं ले रहे हैं इस कारण इन लिपियों को जाननेवाले भी बहुत कम रह गए हैं और उनमें भी ज़्यादातर वयोवृद्ध ही हैं। इस स्थिति को देखते हुए अकादमी की ओर से इन सांचा लिपियों के पठन-पाठन के लिए राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन की योजना के अंतर्गत 21 दिनों का आधार शिविर 4 से 24 जून, 2011 की अवधि में शिमला में आयोजित किया गया। इस शिविर में श्री मनीराम शर्मा ने पावुची, श्री देवी राम पांडे ने पंडवाणी और श्री सीताराम शर्मा ने चंदवाणी तथा भट्टाक्षरी लिपियों का ज्ञान तीस सुशिक्षित शोधार्थियों को दिया। इसी के साथ इस शिविर में हिमाचल की पुरानी लिपि टांकरी का भी इन शोधार्थियों को प्रशिक्षण दिया गया। इन पुरानी लिपियों तथा सांचा ज्ञान को जनहित में बचाए रखने के लिए प्रयास जारी हैं।